समीक्षा और आदर्श

लेखक—

डा० रांगेय राघव

विनोद पुस्तक मन्दिर

हॉस्पिटल रोड, आगरा

भूमिका

प्रस्तुत पुस्तक में मैंने ऐसे विवादास्पद विषयों को लिया है जिनका साहित्य से गहरा सम्बन्ध है, यद्यपि देखने में, ऊपरी तौर से, यही कहा जाता है कि राजनीति और साहित्य का सम्बन्ध नहीं है। प्रगतिवादी लोग साहित्य और राजनीति का सम्बन्ध मानते हैं। कम्युनिस्ट विचारक पुरानी सारी राजनीति की व्याख्या अन्य प्रकार से करते हैं और अपने बारे में प्रश्न उठने पर विषय को स्पष्ट नहीं करते जनता की आड़ लेने लगते हैं। मैंने उसी की व्याख्या की है। हो सकता है मुझे कुछ कुत्सित समाजशास्त्री तर्क-हीन होकर कम्युनिस्ट विरोधी कहें। किंतु मुझे उसकी चिन्ता नहीं है। मैं उनका विरोधी नहीं हूँ किन्तु जो बात मुझे खटकी है, उनको मैंने उठाया है। साहित्य मूल सिद्धान्तों से सम्बन्ध रखता है। मैंने राजनीतिज्ञों का विरोध नहीं किया। वरन राजनीतिज्ञों के उस व्यक्तिवाद का विरोध किया है जो निरंकुशता से जनवाद की आड़ लेकर लेखकों पर शासन करना चाहता है। आशा है पाठक इन प्रश्नों पर गम्भीरता से विचार करेंगे।

रांगेयराघव

भूमिका

प्रस्तुत पुस्तक में मैंने ऐसे विवादास्पद विषयों को लिया है जिनका साहित्य से गहरा सम्बन्ध है, यद्यपि देखने में, ऊपरी तौर से, यही कहा जाता है कि राजनीति और साहित्य का सम्बन्ध नहीं है। प्रगतिवादी लोग साहित्य और राजनीति का सम्बन्ध मानते हैं। कम्युनिस्ट विचारक पुरानी सारी राजनीति की व्याख्या अन्य प्रकार से करते हैं और अपने बारे में प्रश्न उठने पर विषय को स्पष्ट नहीं करते जनता की आड़ लेने लगते हैं। मैंने उसी की व्याख्या की है। हो सकता है मुझे कुछ कुत्सित समाजशास्त्री तर्कहीन होकर कम्युनिस्ट विरोधी कहें। किंतु मुझे उसकी चिन्ता नहीं है। मैं उनका विरोधी नहीं हूँ किन्तु जो बात मुझे खटकी है, उनको मैंने उठाया है। साहित्य मूल सिद्धान्तों से सम्बन्ध रखता है। मैंने राजनीतिज्ञों का विरोध नहीं किया। वरन राजनीतिज्ञों के उस व्यक्तिवाद का विरोध किया है जो निरंकुशता से जनवाद की आड़ लेकर लेखकों पर शासन करना चाहता है। आशा है पाठक इन प्रश्नों पर गम्भीरता से विचार करेंगे।

रांगेयराघव

— १ —

साहित्य के माध्यम से युगांतर से कविगण अथवा व्यापक दृष्टिकोण को अपनाने पर स्वीकार किये जाने योग्य लेखक किसी न किसी आदर्श की प्रतिष्ठा करते रहे हैं। यह आदर्श अपने द्विविध रूप में भारतीय संस्कृति में प्रकट हुआ है।

१] वह अपने वाह्यरूप में सामाजिक आदर्श है, जो एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति के सम्बन्धों का निर्धारण करता है।

२] वह अपने अन्तस्थ रूप में व्यक्तिगत आदर्श है, जो एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति से उद्‌भूत सम्बन्धों में उसकी अपनी इकाई की सार्थकता प्रदर्शित करता है।

प्रगतिशील चिन्तन के विकास ने जब से वैज्ञानिक समाज-शास्त्रीय व्याख्या को प्रस्तुत किया है, तब से इस विभाजित द्वन्द्व को एक दूसरे के विरुद्ध रखकर देखने की प्रवृत्ति हो आई है, जिसके कारण एक पक्ष भारतीय चिन्तन को 'आत्मा' की सहायता से आगे बढ़ाने में अपनी रक्षा समझता है और दूसरा मार्क्सीय चिन्तन को अन्तिम सत्य मान बैठता है तथा उद्धरण देने को ही अपनी परिणत अवस्था मान लेता है।

वास्तव में हमें पहले आदर्श की व्याख्या करनी चाहिए क्योंकि आदर्श का महत्त्व बहुत बड़ा है। यही तो वह वस्तु है जिसके बल पर साहित्य को भरत से लेकर आज तक के विद्वान् बड़े-बड़े नाम देते आ रहे हैं। यह सही है कि इस आदर्श की व्याख्या के भिन्न-भिन्न रूप हैं, किन्तु प्रश्न उठता है कि आदर्श केवल साहित्य का वाह्य कलेवर है या उसकी चेतना के मूल से

भी कुछ सम्बन्ध रखता है ? अथवा नहीं रखता।

इस प्रश्न को अभी तक विचारक इस दृष्टिकोण से नहीं देखते थे। वे सीधे काव्य की आत्मा की व्याख्या करने की चेष्टा करते थे और वह सब वाह्य उनकी दृष्टि में उपेक्षित होता था, जिसको कि साहित्य का प्रकट अथवा दिखाई देने वाला स्वरूप कहा जा सकता था। इसका कारण था कि वे विभिन्न प्रकार की आंशिक अथवा पूर्ण असंगतियों के प्रति उपेक्षा रख कर, किसी मूल सत्य को प्रतिष्ठापित करके, युग-युग के लिये उसको शाश्वत मान कर, चैन से बैठना चाहते थे जब कि हम उस सत्य को स्थिरीकृत करके नहीं देखना चाहते, हम तो उसे 'गति' के सत्य में उसके 'चल' स्वरूप में देखना चाहते हैं। हम जानते हैं कि एक यात्री जब घर से निकलता है तब वह अपनी मंज़िल तक पहुँचने की अवधि तक अनेक स्थानों में से निकलता है। यदि कायदे से देखा जाये तो यह समूचे पथ में से गुज़रा हुआ आदमी गंतव्य पर पहुंचकर कहीं नहीं रह जाता, जो कि वह यात्रा प्रारम्भ करते समय था। किन्तु व्यक्ति मूलतः वही रहता है यद्यपि वह प्रतिक्षण परिवर्त्तित होता रहता है। इस प्रतिक्षण के परिवर्त्तन में जो प्रवाहमयता में ही प्रतिक्षण की अनुभूति के तार से अपनी सत्ता को प्रतिक्षण परिवर्त्तित होती प्रकृति के कार्यव्यापार में अपनी इकाई में अनुभव करता है, वही यात्री का वास्तविक स्वरूप है। अर्थात् वाह्य और अन्तस्थ इस सृष्टि में निरन्तर बदलते रहते हैं। इस नैरंतर्य्यमय परिवर्त्तन को देखकर ही बुद्ध ने अपने युग में अपनी भाषा में आत्मा की पूर्ण सत्ता को अस्वीकृत करके अनात्म का प्रतिपादन किया था। उपनिषदों ने आत्मा को नित्य माना था। इसको अरूप मानकर भी वायव्य सत्ता के रूप में स्वीकृत किया था। न दिखाई देने वाले सूक्ष्म से सूक्ष्म और महत से भी महत को अणोरणीयान् महतोमहीयान् कहकर आत्मा की जिस प्रकार व्याख्या की गई उसे शताब्दियों से भारतीय समाज ने श्रद्धा से अपनाया है। मनुष्य के कर्म जैसी प्रगट वस्तु को कार्य्यकारण के सम्बन्ध से उस अरूप आत्मा से जोड़कर जो जन्मजन्मांतर के व्यूहों में अभिव्यक्त किया गया, उसे भी भारत के सर्वसाधारण ने अत्यन्त सहज मानकर ही अङ्गीकार किया था, जैसे वह कोई कठिन बात ही नहीं थी। अभावात्मक वर्णनों की समष्टि को भौतिक

जगत से जोड़कर उसे सहज स्वीकार करने की कला में जो प्रवीणता भारतीयों ने दिखाई वह निस्संदेह बड़ी विचित्र सामाजिक विकास-प्रक्रिया की प्रतिनिधित्व करने वाली बात है। ढाई हज़ार साल पहले बुद्ध ने उस आत्मा की एकरूपता को चुनौती दी और परिवर्त्तन पर अधिक बल दिया। देखने में यह भले ही नवीनता लगे परन्तु इतिहास और संस्कृति का विद्यार्थी जानता है कि यह तत्कालीन समाज की ही विशेष विचारधाराओं का परिणाम था। यद्यपि बुद्ध का विचार अपने मूल को भूल कर नये विचारों में बदल गया, परन्तु हम जिस गति को मानकर चलते हैं वह अपने को सापेक्ष रखकर देखती है और इसलिये हमारे विचार का मूल बदल नहीं सकता, विकसितमात्र हो सकता है। हम प्रत्येक युग की परिस्थिति को पहले देखते हैं और परिस्थिति को समझने के लिये व्यक्ति के विकास के सर्वाङ्गीणरूप का अध्ययन करते हैं। इसी का नाम आदर्श का अध्ययन है।

आदर्श का पुरातन स्वरूप धर्म के नाम पर अपना प्रकटीकरण कर सका है।

धर्म शब्द का अर्थ प्राचीन भारत में कानून से लिया जाता था, क्योंकि मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य, नारद, पाराशर आदि की स्मृतियों में कानूनों का वर्णन है और वे कानून ही धर्म कहे गये हैं। हम अब ६ वीं शती से जिस रूप में धर्म शब्द का अर्थ ग्रहण करते रहे हैं, वह अर्थ पुराने भारत में इस शब्द के साथ लगा हुआ नहीं था। गीता में कृष्ण ने स्वधर्म पालन में निधन भी श्रेय बताया है। उस समय धर्म का अर्थ ईसाई या मुसलमान या हिन्दू होना नहीं था, क्योंकि तब आर्य्य सशक्त थे और अपनी जैसी सशक्त जातियों से बाद के युग का सा अलगाव नहीं रखते थे। उस समय अन्तर्भुक्ति का मार्ग रूढ़िवाद ने बन्द नहीं किया था। तब धर्म का अर्थ था समाज के आर्थिक, राजनैतिक नियमन को मानना और उसके अनुसार काम करना। उपासना के क्षेत्र में व्यक्ति स्वतन्त्र था। जैसे बाद में हिन्दू, मुसलमान, ईसाई नामक 'धर्म' चले, वैसे प्राचीनकाल में एक ही संस्कृति में जन्मे विभिन्न सम्प्रदाय थे जैसे जैन, बौद्ध, कापालिक, कालामुख, गाणपत्य, सौर इत्यादि।

जब धर्म का अर्थ बदला तो उसका तात्पर्य्य हुआ एक विशेष प्रकार की

भी कुछ सम्बन्ध रखता है ? अथवा नहीं रखता।

इस प्रश्न को अभी तक विचारक इस दृष्टिकोण से नहीं देखते थे। वे सीधे काव्य की आत्मा की व्याख्या करने की चेष्टा करते थे और वह सब वाह्य उनकी दृष्टि में उपेक्षित होता था, जिसको कि साहित्य का प्रकट अथवा दिखाई देने वाला स्वरूप कहा जा सकता था। इसका कारण था कि वे विभिन्न प्रकार की आंशिक अथवा पूर्ण असंगतियों के प्रति उपेक्षा रख कर, किसी मूल सत्य को प्रतिष्ठापित करके, युग-युग के लिये उसको शाश्वत मान कर, चैन से बैठना चाहते थे जब कि हम उस सत्य को स्थिरीकृत करके नहीं देखना चाहते, हम तो उसे 'गति' के सत्य में उसके 'चल' स्वरूप में देखना चाहते हैं। हम जानते हैं कि एक यात्री जब घर से निकलता है तब वह अपनी मंज़िल तक पहुँचने की अवधि तक अनेक स्थानों में से निकलता है। यदि कायदे से देखा जाये तो यह समूचे पथ में से गुज़रा हुआ आदमी गंतव्य पर पहुंचकर कहीं नहीं रह जाता, जो कि वह यात्रा प्रारम्भ करते समय था। किन्तु व्यक्ति मूलतः वही रहता है यद्यपि वह प्रतिक्षण परिवर्त्तित होता रहता है। इस प्रतिक्षण के परिवर्त्तन में जो प्रवाहमयता में ही प्रतिक्षण की अनुभूति के तार से अपनी सत्ता को प्रतिक्षण परिवर्त्तित होती प्रकृति के कार्यव्यापार में अपनी इकाई में अनुभव करता है, वही यात्री का वास्तविक स्वरूप है। अर्थात् वाह्य और अन्तस्थ इस सृष्टि में निरन्तर बदलते रहते हैं। इस नैरंतर्य्यमय परिवर्त्तन को देखकर ही बुद्ध ने अपने युग में अपनी भाषा में आत्मा की पूर्ण सत्ता को अस्वीकृत करके अनात्म का प्रतिपादन किया था। उपनिषदों ने आत्मा को नित्य माना था। इसको अरूप मानकर भी वायव्य सत्ता के रूप में स्वीकृत किया था। न दिखाई देने वाले सूक्ष्म से सूक्ष्म और महत से भी महत को अणोरणीयान् महतोमहीयान् कहकर आत्मा की जिस प्रकार व्याख्या की गई उसे शताब्दियों से भारतीय समाज ने श्रद्धा से अपनाया है। मनुष्य के कर्म जैसी प्रगट वस्तु को कार्य्यकारण के सम्बन्ध से उस अरूप आत्मा से जोड़कर जो जन्मजन्मांतर के व्यूहों में अभिव्यक्त किया गया, उसे भी भारत के सर्वसाधारण ने अत्यन्त सहज मानकर ही अङ्गीकार किया था, जैसे वह कोई कठिन बात ही नहीं थी। अभावात्मक वर्णनों की समष्टि को भौतिक

जगत से जोड़कर उसे सहज स्वीकार करने की कला में जो प्रवीणता भारतीयों ने दिखाई वह निस्संदेह बड़ी विचित्र सामाजिक विकास-प्रक्रिया की प्रतिनिधित्व करने वाली बात है। ढाई हज़ार साल पहले बुद्ध ने उस आत्मा की एकरूपता को चुनौती दी और परिवर्त्तन पर अधिक बल दिया। देखने में यह भले ही नवीनता लगे परन्तु इतिहास और संस्कृति का विद्यार्थी जानता है कि यह तत्कालीन समाज की ही विशेष विचारधाराओं का परिणाम था। यद्यपि बुद्ध का विचार अपने मूल को भूल कर नये विचारों में बदल गया, परन्तु हम जिस गति को मानकर चलते हैं वह अपने को सापेक्ष रखकर देखती है और इसलिये हमारे विचार का मूल बदल नहीं सकता, विकसितमात्र हो सकता है। हम प्रत्येक युग की परिस्थिति को पहले देखते हैं और परिस्थिति को समझने के लिये व्यक्ति के विकास के सर्वाङ्गीणरूप का अध्ययन करते हैं। इसी का नाम आदर्श का अध्ययन है।

आदर्श का पुरातन स्वरूप धर्म के नाम पर अपना प्रकटीकरण कर सका है।

धर्म शब्द का अर्थ प्राचीन भारत में कानून से लिया जाता था, क्योंकि मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य, नारद, पाराशर आदि की स्मृतियों में कानूनों का वर्णन है और वे कानून ही धर्म कहे गये हैं। हम अब ६ वीं शती से जिस रूप में धर्म शब्द का अर्थ ग्रहण करते रहे हैं, वह अर्थ पुराने भारत में इस शब्द के साथ लगा हुआ नहीं था। गीता में कृष्ण ने स्वधर्म पालन में निधन भी श्रेय बताया है। उस समय धर्म का अर्थ ईसाई या मुसलमान या हिन्दू होना नहीं था, क्योंकि तब आर्य्य सशक्त थे और अपनी जैसी सशक्त जातियों से बाद के युग का सा अलगाव नहीं रखते थे। उस समय अन्तर्भुक्ति का मार्ग रूढ़िवाद ने बन्द नहीं किया था। तब धर्म का अर्थ था समाज के आर्थिक, राजनैतिक नियमन को मानना और उसके अनुसार काम करना। उपासना के क्षेत्र में व्यक्ति स्वतन्त्र था। जैसे बाद में हिन्दू, मुसलमान, ईसाई नामक 'धर्म' चले, वैसे प्राचीनकाल में एक ही संस्कृति में जन्मे विभिन्न सम्प्रदाय थे जैसे जैन, बौद्ध, कापालिक, कालामुख, गाणपत्य, सौर इत्यादि।

जब धर्म का अर्थ बदला तो उसका तात्पर्य्य हुआ एक विशेष प्रकार की

संस्कृति के अन्तर्गत रहकर अपने-अपने सम्प्रदायों को मानना। पुराने समय में जो तर्क बुद्धि थी, वह छोड़ दी गई। इसका कारण यह था कि संस्कृति की रक्षा विदेशियों के आक्रमण के समय सर्वोपरि हो गई थी। संस्कृति का दूसरा नाम अपने संकीर्ण विभाजन में धर्म बनकर प्रचलित हो गया। यूरोप और पश्चिमी इस्लामी देशों में केवल सम्प्रदाय जन्मे। फिर सम्प्रदायों के भीतर ही उप-संप्रदाय भी हुए। परन्तु उनका दृष्टिकोण भारतीय धर्म-सम्बन्धी मूल चिन्तन की भाँति व्यापक नहीं था। इससे सङ्कीर्णता का जन्म हुआ।

अब उस संकीर्णता के आदर्श को मानने से नयी परिस्थितियों का विकास समझ में नहीं आता। आवश्यकता इस बात की है कि वस्तुस्थिति का पुनः मूल्यांकन किया जाय। इससे पहले हमें धर्म संबंधी विचारों का मंथन करना चाहिये, ताकि हम उसके विकास संबंधी अनुभवी से भविष्य के लिये लाभ उठा सकें।

प्रत्येक धर्म और संप्रदाय अपने साथ एक विशिष्ट संस्कृति का प्रतिपादन करता है। यदि हम इस सांस्कृतिक पक्ष को छोड़ दें तो धर्म केवल नैतिक नियमावली है जिसे अंगरेज़ी में (Ethics) एथिक्स कहते हैं। किंतु एथिक्स से भी बढ़कर धर्म का प्रभाव रहा है, क्योंकि एथिक्स की मर्यादा अपनी सीमाओं में प्रभावित नहीं कर पाती, वही जब धर्म का अङ्ग बनकर प्रस्तुत होती है, तो उसमें एक प्राणवती महिमा का उदय होता है, जो अपने गहरे प्रभाव छोड़ने की सामर्थ्य रखती है। धर्म की निर्बलता है कि जब वह जन्म लेता है तब वह एक विशेष समाज में से उद्भूत होता है और अपने से पुराने समाज की विरासत को ग्रहण करता है, किन्तु जब वह अपना आकार ग्रहण कर लेता है तब वह विकास नहीं कर पाता। विकास तो फिर भी होता है। तब विकास और धर्म में द्वन्द्व हो जाता है। विकास नयी परिस्थिति में नयी व्याख्या चाहता है और धर्म की व्याख्या सीमित होती है, वह विकास में अपने को प्रतिपल्लवित नहीं कर पाती। होता यह है कि एक धर्म बन गया। अब उसमें यदि नयी बात का समावेश होता है तो वह उपसंप्रदाय बनता है जैसे अद्वैतवाद के बाद विशिष्टाद्वैतवाद, द्वैतवाद आदि बने। यदि बात अधिक नयी होती है तो उसमें ऐसा भेद आता है जैसे यहूदी, ईसाई,

मुसलमान। यदि व्याख्यात्मक भेद होता है तो ऐसे आता है जैसे सांख्य, बौद्ध और जैन दर्शन पर अवलंबित जीवनतंत्र की व्याख्या। क्रम विकास में यह परिवर्त्तन विरोधों की टकराहट से बढ़ता है वह सहज गति या कुदान (Leap) के प्राकृतिक स्वरूप में गुणात्मक परिवर्त्तन के रूप में प्रकट नहीं होता। यही कारण है कि उसके भीतर अन्तर्विरोध पैदा हो जाते हैं और गतिरोध रूढ़िवाद को जन्म देता है। वैसे तो कोई भी चिंतन कभी भी न दावा कर सका है, न कर ही सकेगा कि यही शाश्वत है, यही अन्तिम है, परन्तु मनुष्य का एक दावा शाश्वत रहेगा, कम से कम तब तक रहेगा जब तक इस पृथ्वी पर मनुष्य है कि मनुष्य का ज्ञान पूर्ण कभी नहीं है, वह विकासशील है और परिवर्त्तित होता रहता है, इसीसे सापेक्ष है। इस सापेक्षता की स्वीकृति परमावश्यक है।

आध्यात्मवाद की सीमाएं हैं।[1] वह विकास को स्वीकार नहीं करता। और इससे ही सारी उलझन पैदा हो जाती है। जब 'समय तत्त्व' को नहीं माना जाता तब रूढ़ि अपना रंग लाती है।

---

1. Contrary to metaphysics, dialectics does not regard the process of development as a simple process growth, where quantitative changes do not lead to qualitative changes, but as a development which passes from insignificant and imperceptible quantitative changes to open, fundamental changes, to qualifative changes ; a development in which lhe qualitative changes occur not gradually,but rapidly and abruptly, taking the form of a leap from one state to another ; they occur not accidentally but as a natural result of an accumulation of imperceptible and gradual quantitative changes.

(Dialectical & Historical materialism. J. Stalin moscow 1952. pp. 10.)

विकास अपने आप में सहज नहीं हुआ करता। धीरे-धीरे परिवर्त्तन होता जाता है। इतने धीरे कि दिखाई भी नहीं देता। फिर एकदम परिवर्त्तन आता है, इसलिये कि जो धीमे-धीमे परिवर्त्तन होता रहता है वह इकट्ठा होने पर ही दिखाई देने लगता है। मात्रात्मक परिवर्त्तन हो जाने से गुणात्मक परिवर्त्तन हो जाया करता है। फिर कई गुणात्मक परिवर्त्तनों के मात्रात्मक संघट्ट से नया गुणात्मक परिवर्त्तन हो जाया करता है। धर्म इसको स्वीकार नहीं करता। वह तो एक नियमावली बनाकर संतोष कर लेता है।

सच तो यह है कि मनुष्य अपने जीवन समाज, संसार की व्याख्या करके रहना चाहता रहा है और रहेगा भी। बौद्धों ने जब चिंतन किया था तब यह स्वीकार किया था कि दो प्रकार के सत्य होते हैं। एक लौकिक एक परमार्थिक। परमार्थिक के नाम पर जो बौद्धिकता ने अपनी सीमाओं में बंधे रहकर भी व्यापकता दिखाने की चेष्टा की थी, वह जनसमाज पर अपना प्रभाव नहीं डाल सकी। जनसमाज उतना शिक्षित नहीं था। वरन् यह कहना ठीक होगा कि उसकी समस्याओं के समाधान के लिये एक श्रद्धापरायण नैतिकता की आवश्यकता थी। वह समाधान युगप्रचलित था। उसी के अनुरूप चिंतकों ने लौकिक सत्य को विवश होकर स्वीकार कर लिया और जनसमाज में अपने पाँव जमाये रखने की चेष्टा की। चिंतन का यह द्विविध रूप भारत में ही प्राप्त होता है, जिससे विवशता में आवश्यकताओं के लिये एक सत्य स्वीकार किया, किंतु उसको सापेक्ष समझकर परमार्थ में उसी स्वीकृति को लघु कहकर झुँठा दिया। किन्तु उनका यह सापेक्षता का ज्ञान केवल इस सत्य पर टिका था कि वे परिवर्त्तन के प्रवाह को अनाहत रूप से अविच्छिन्न मानते थे। उसमें एक बहुत बड़ी कमी थी। वह थी उस परिवर्त्तन में आने वाले गुणात्मक परिवर्त्तन का अज्ञान। वे एक ही चक्र की कल्पना करते थे। इसलिये विद्रोही सा दिखाई देने वाला यह चिन्तन केवल विद्रोही दिखाई ही देता था। मूलतः इसकी पहुँच अन्य स्थावर चिंतनों से कम थी। दूसरे संप्रदायमूलक होने के कारण यह अन्तर्भुक्ति होने के झटकों को भी नहीं झेल सका, अपने ही पैरों पर कुल्हाड़ी मारने लगा और यह इतनी दूर जाकर गिरा कि अपनी केन्द्रबिंदु पर लौटने की क्षमता को पूरी तरह से विस्मृत

कर गया।

मनुष्य का विकास अपनी सामर्थ्य में कितना बड़ा है, इसका केवल एक अंश साहित्य के माध्यम से प्रगट होता है। साहित्य उसके अन्तर्तम की अभिव्यक्ति है। वह एक प्रकार से उसकी सत्ता की सबसे सुन्दर व्याख्या भी कहा जा सकता है।

इस मनुष्य के समाज में अनेक व्यक्ति हुए हैं जिन्होंने साहित्य के लिये सब कुछ न्यौछावर कर दिया है और अपने को भी मिटाकर वे चले गये हैं। काव्य के आचार्यों ने उसे यश और कीर्त्ति की लिप्सा कहा है। मैं समझता हूँ यश और कीर्त्ति की नीयत धन कमाने की नीयत की ही भाँति साहित्यकार की आत्मा को पूर्णरूपेण संतुष्ट नहीं करती। सामाजिक सम्बन्धों में जो हृदय पर घात प्रतिघातों की क्रिया प्रक्रिया होती है, वही संवेदनशील हृदय को आगे बढ़ाती है। कवि यह जानते हुए भी कि अमुक कार्य्य में यश मिलेगा तब तक उसे नहीं करते जब तक उनकी इच्छा स्वयं उस ओर जाग्रत न हो जाये। यहाँ मैं कवि व्यक्तित्व और समाज को दो भागों में बाँटकर नहीं देखता।

मनुष्य एक विराट अस्तित्व का भाग है और वही इस योग्य हुआ है कि प्रकृति को अनुभव की दृष्टि से देखे, जो कि अन्य जानकर नहीं कर सके हैं। उनमें प्रयोग करने की क्षमता है, और वह तथ्यों को एक दूसरे से जोड़कर उनकी परीक्षा करता है। वह स्वयं भी उन परीक्षण का विषय है। प्रयोग का विषय है। यदि हम यह स्वीकार करते हैं कि जीवित विश्व के अध्ययन से इस विषय पर कुछ प्रकाश पड़ सकता है कि हम उसके महत्त्व को समझ सकें कि वह धरती पर क्यों आया, कैसे आया, तब हमें पता चल सकता है कि उसका अन्यों से क्या सम्बन्ध है, अन्यों से क्या भेद है। इसके लिये आवश्यक है कि हम समस्त संसार का प्रारम्भ से अध्ययन करें किंतु हमें यह अवश्य याद रखना चाहिये कि जिन औज़ारों से हम प्रयोग करते हैं और अनुभव ग्रहण करते हैं, परीक्षा करते हैं, वे इतने समर्थ नहीं भी हो सकते हैं कि सब कुछ को हमारे सामने प्रगट कर सकें।'[1]

१ ह्यूमन डैस्टिनी—लोकोम्ते द्यू न्यौय पृ० २१

इसीलिये कवि हृदय की व्याख्या करते समय भी हमें कुछ विशेषताओं की ओर ध्यान देना होगा। यह आदर्श के अध्ययन का मूल प्रश्न है, क्योंकि हमारा सम्बन्ध साहित्य से ही है।

कवि का हृदय जब वस्तु को ग्रहण करके फिर अभिव्यक्त करता है तब वस्तु केवल वही नहीं रहती जो पहले थी। उस वस्तु में उसका व्यक्तित्व मिलकर फिर बाहर ढलता है। इसे 'कला कला के लिये' वाले स्वेच्छा कहते हैं। रूढ़िवादी इसे 'परमात्मा की देन' कहा करते हैं। समाज शास्त्र के आलोचक कवि के मानस की इस स्वतंत्रता को उसकी अपने आदर्श के प्रति होने वाली श्रद्धा कहा करते हैं। आदर्श तो विकास है। विकास एक संघर्ष है।

प्रकृति की विजय मात्र मनुष्य को सुख नहीं दे सकती जब तक कि उसके साथ मनुष्य की नैतिक उन्नति भी नहीं होती।[2] इस नैतिकता का सबसे संतुलित रूप कवि में प्रगट होता है। कभी कभी युग विशेष के नैतिक मानदण्ड अपने आपमें पूर्ण दिखाई देते हैं। मनुष्य से मनुष्य के जो संबंध होते हैं उनके प्रति ऐसा दृष्टिकोण हो जाता है कि वे सर्वश्रेष्ठ हैं, सबसे अधिक न्याय्य हैं। इतिहास की ओर जाकर आज के जीवन में फैली वर्गगत विषमता एक ऐसी चीज़ है, जो उनके हृदय को भी हिला देती है, जो कि वर्गगत जीवन को शाश्वत समझते हैं। किंतु ऐसा क्यों होता है? इसलिये जब कलाकार कला का सृजन करता है तब कला उस अभिव्यक्ति का पर्य्याप्त है, जो कलाकार अपने व्यक्तित्व से वस्तु का तादात्म्य करके सृजन करता है। कलाकार में वस्तु के सम्बन्ध में आने पर विशेष विचारों अनुभूतियों तथा भावों का जागरण होता है। कलाकार का व्यक्तित्व उन सबको अपने भीतर लेकर उसे दूसरों को सुना देने की इच्छा करता है, क्योंकि उसका व्यक्तित्व अपने आपमें पूर्ण नहीं हो जाता, उसकी पूर्णता उसके व्यक्तित्व के समाज संबंधों पर निर्मित तथा निर्भर भी होती है। वह अपने को प्रगट कर देता है। इस प्रकार वह न समाज के व्यूह में व्यक्तित्व का नाश है, न व्यक्तित्व की किसी प्रकार की निरंकुशता ही, जो नियमन के किसी रूप को भी स्वीकार नहीं करती। व्यक्ति जब समाज से संवेदनशीलता से मिलता है तब उसमें

२ वही पृ० १७८

अभिव्यक्ति का बीज जाग्रत होता है। उस अभिव्यक्ति की प्रेषणीयता के मूल में यश की चाह नहीं होती, होती है न्याय की भावना। न्याय मनुष्य की एक उदात्त कल्पना है जो युग परिस्थितियों में घिरी होने के कारण केवल सापेक्ष महत्त्व रखती है। न्याय के रूप में मनुष्य ने अपने समाज को सदैव सुन्दर बनाने की चेष्टा की है। कलाकार की यह न्याय भावना सबसे स्पष्ट होती है, क्योंकि जहाँ समाज का लिपिबद्ध न्याय अपने को मनुष्य से ऊपर रखकर बात करता है, वहाँ कलाकार मनुष्य को ही न्याय के ऊपर रखता है, मनुष्य के सुख की आधारभूमि पर वह सत्यं शिवं सुन्दरं की कल्पना करता है। कलाकारों ने ही युग विशेषों के बंधन तोड़कर मनुष्य को आगे बढ़ने की राह दिखाई है। मार्क्स और लेनिन ने जिन आर्थिक और राजनीतिक पक्षों को लिया था, गोर्की ने ही उनको पुष्ट करके समाज में स्थापित किया, क्योंकि वह किताबों के माध्यम से नहीं, जीवित मनुष्यों को चित्रित करके उनके सुख दुख के संघर्ष के भीतर से उस 'व्यापक न्याय' की ओर इंगित कर सका, जो मार्क्स और लेनिन की रचनाओं से अधिक व्यापक, स्थायी, उपदेशात्मक और सार्वभौम था।

आदिम युगों से ही कलाकार के रूप में समाज ने अपनी विविधता की इकाई को प्रगट किया है। जब मैं विविधता का नाम लेता हूँ तब यही उसका तात्पर्य होता है कि व्यक्ति समाज सापेक्ष होता है। उसके समाज के उत्पादन के साधन उस पर अपना गहरा प्रभाव डालते हैं। आदिम चित्रों में पशुओं और मनुष्यों के चित्र होना और पौधों के न होना,[1] उस युग के शिकारी जीवन की अभिव्यक्ति बनकर उपस्थित हैं और देशांतरों में सार्वभौम रूप से उपस्थित हैं। इस प्रकार का साम्य कला के ऊपर पड़ने वाला प्रभाव है।

1. It is of the highest significance that hunting peoples generally depict only animals and men in their paintings and neglect plants. This phenomenon has been observed in various parts of the world, which leads to the conclusion that similar modes of production account for similarities in primitive art. Social Roots of the Arts. Louis Harap, International Publishers New York, 1949. pp. 14.

यह तो पहली वस्तु है जो हमें कला के सम्बन्ध में देखनी पड़ती है। कला और समाज की उलझनें समाज के विकास के साथ बढ़ती जाती हैं।[२] यद्यपि सबका मूल उत्पादन की पद्धति है...परन्तु कला केवल भौतिक सत्ता ही में समाप्त नहीं हो जाती, वह एक प्रकार का आदर्श होती है।[3] वह किसी न किसी रूप में जीवन की व्याख्या होती है और इस प्रकार उसका 'वास्तव' से अथवा 'यथार्थ' से परोक्ष संबंद्ध तो होता ही है। आदर्श अपने आप जन्म नहीं लेते। वे भौतिक और सामाजिक परिस्थितियों के प्रतिबिम्ब होते हैं।[४] यह प्रतिबिंब सबके ऊपर समान नहीं पड़ते। जिस पर पड़ते हैं, और जो उन्हें इस प्रकार अभिव्यक्त करता है कि सब उन बिंबों को समान रूप से ग्रहण करते हैं, वही कलाकार हुआ करता है। वह अपनी सीमाओं में रह कर अपने समाज में होते हुए उस अदृश्य मात्रात्मक परिवर्त्तनों से होने वाले अप्रत्यक्ष परिणामों को देखने की सामर्थ्य रखता है, क्योंकि व्यक्ति और व्यक्ति के भौतिक संबंध मात्र से उसका संबंध नहीं रहता ; वह व्यक्ति के सर्वाङ्गीण जीवन को देखता है।

सौंदर्य्यगत वस्तु अनेक प्रकार की इच्छाओं की पूर्त्ति करती है। रूप की अभिलाषा , मनोरंजन, सज्जा, अपने आदर्श को सुदृढ़ करने की इच्छा इत्यादि

---

2. The beginnings of art thus show that art results from the intricate interplay of forces both within and outside of it, and that the source of all this complex activity is in production............As society develops, it absorbs and integrates elements from the past, so that more and more possibilities of human expression are continually realized. (वही पृ० १५).

3. Apart from its physical existence, art is a form of idiology. (वही पृ० १६).

4. It is to one degree or another an interpretation of life and the world and thus has an indirect relation to reality...... ......Ideologies do not arise spontaueously but are a reflection of the material and social conditions which determine their existence. (वही पृ० १६).

उसके अन्तर्गत हैं। इसके साथ ही दो बातें और भी होती हैं जिनमें कलाकार एक प्रकार से सत्य से उतर आता है। वह हैं अपने वर्ग के स्वार्थ की रक्षा और अपने अहं की भावना की तुष्टि करने के प्रयत्न।[1] इन दो बातों में कलाकार अपने समाज की चेष्टाओं से अधिक प्रभावित होता है, और उस समय निश्चय ही वह अपनी महान उदात्तभूमि से नीचे उतर आता है।

वाह्य रूपेण उत्पादन ही इसका मूल कारण होता है। किंतु कला के लिये उत्पादन व्यवस्था आधार होने पर भी, यह आवश्यक नहीं होता कि कला और उत्पादन की उन्नति का अन्योन्याश्रय संबंध एक सी ही उन्नति भी करे।[2] उत्पादन और विज्ञान में सीधा संबंध होता है। विज्ञान की उन्नति आवश्यकताओं के परिणामस्वरूप हुई। प्राचीन नक्षत्र ज्ञान—ज्योतिष इत्यादि की उन्नति व्यापारी जातियों द्वारा हुई जैसे फीनीशियन थे। विज्ञान प्रकृति की समानताओं का अन्वेषण करता है।[3] कला मानवी भावनाओं को दृष्टि और ध्वनि के विभिन्न माध्यमों में संगठित करती है।

---

1. An asthetic object satisfies a variety of wants, the desire for beauty, knowledge, adornment, amusement, the need to fortify one's convictions or to be at one with other men, the enforcement of a class position or enhancement of personal prestige. (Social roots of the arts. L. Harap. Pp. **17**)

2. Despite the fact that production is a condition for art, the level of art does not always necessarily coincide with the degree of development of production in the strictly economic sphere. × × A direct relationship does exist between science and production. × × Scientific development was called forth by economic needs. × × It is generally known that astronomy was early advanced by commercial societies such as the Phoenicians and by Europe of the age of discovery. (वही पृ० १६—२०).

3. Science discovers uniformities of nature, while art organizes human feelings in various mediums of sight and sound. (वही पृ० २०).

इस प्रकार कला के मनोगत सत्यों में से एक यह उभर कर आता है कि कलाकार सत्य को दो दृष्टिकोणों से देखता है : एक वह जो उसके समाज के सीधे संबंधों के परिणाम हैं, जिनमें कलाकार की कला इतनी व्यापक नहीं हो जाती कि वह अपने निहित स्वार्थों से उठकर वस्तु को देख सके।

दूसरे वह जो उसके समाज के समस्त संबंधों के रहते हुए भी उसकी उस व्यापक अनुभूतिजन्य संवेदना का फल होता है कि वह उसकी दृष्टि को मनुष्यमात्र के लिये खोल देता है और उस समय 'सत्य' के चित्रण में वह इतना तन्मय हो जाता है कि अपने युग परक बंधनों की विषमता, उसकी चेतना अथवा अजागरूक अवस्था में ही प्रगट हो जाती है। और इस प्रकार अंधकार में प्रकाश फैल जाता है।

कलाकार के इन दो स्वरूपों में कला के आश्रय और आलंबन का वह रहस्य छिपा हुआ है, जिन पर अभी तक आचार्य्यों की दृष्टि नहीं गई है। जैसा कि अन्यत्र मैं उद्धृत कर चुका हूं कि चण्डीदास ने मध्ययुग में ही कहा था कि सबसे ऊपर सत्य मानव है, मानव से ऊपर कोई नहीं, इसमें युग परक बंधनों से कहीं आगे की बात थीं। मैं यह नहीं कहता कि इस सत्य को बिंबित करने वाले विचार उस समाज की भौतिक व्यवस्था से ही उद्भूत नहीं हुए थे, परन्तु मैं यह कहना चाहता हूँ और इसे रेखाङ्कित करना चाहता हूँ कि वर्ण-व्यवस्था के प्राचीन विरोधी तांत्रिक चिंतन ने जो अपनी अन्तिम परिणति में वैष्णव चिंतन के माध्यम को अपना कर मनुष्य के ऊपर अधिक बल दिया था, वह यद्यपि चण्डीदास की पृष्ठभूमि में था अवश्य, परन्तु वह स्वयं उस वर्ग का व्यक्ति नहीं था, जिस वर्ग का स्वार्थ वर्णव्यवस्था से टकराता हो। चंडीदास की युग प्रभावित अभिव्यक्ति उसकी 'स्वेच्छा' थी कि उसने अपने ही वर्ग का विरोध किया। इसका कारण था कि 'सदिच्छा' अर्थात् व्यापक मानव की संवेदना ने उसे प्रभावित किया था।

मार्क्स के अधुना अनुयायी इस व्यापक दृष्टिकोण को नहीं देखते हैं तो उसे वर्गजात जीवन में यांत्रिक ढंग से चलता फिरता प्रमाणित करते हैं। ओवेन के विषय में जो एंगिल्स ने लिखा है, वह इसी प्रकार की एकांगी दृष्टि का प्रभाव कहा जा सकता है। व्यक्ति की 'सदिच्छा' को 'स्वेच्छा' की

जगह प्रयुक्त करने से यही दुष्परिणाम निकलते हैं। आधुनिक कम्युनिस्ट जो कि अधिकाँश टुटपूँजिया मध्यवर्ग से निकल कर अध्यापक बन कर अपने को स्वतन्त्र चेता कहते हैं, या अपनी पार्टी में तनख्वाह लेकर पार्टी का काम करते हैं, क्या उनके विषय में यही नहीं कहा जा सकता कि वे अपनी रोटियों और अहम्मन्यता में आबद्ध होने के कारण पार्टी के नाम पर यांत्रिक मार्क्स-वाद का प्रचार करते हैं। उनकी भी तो कोई सदिच्छा नहीं मानी जा सकती, क्योंकि यदि हम यही दृष्टिकोण लें कि वर्गगत स्वार्थ ही व्यक्ति को यंत्रवत परिचालित करते हैं, तो सबसे पहले तो यही प्रश्न उठता है कि एक वर्ग का व्यक्ति दूसरे वर्ग के हित के लिये लड़ ही कैसे सकता है? किसी भी महत् उद्देश्य के लिये लड़ने वाले बौद्धिक ईमानदार आदमियों को रोटी के लिये प्रचार करने वाला कह कर इस प्रकार की चेष्टा कर सकती है। ऐंगिल्स ने ज़ब ओवेन के विषय में एकाँगी अध्ययन प्रस्तुत किया, तब वह उन लोगों को उत्तर दे रहा था, जो कि व्यक्ति पर वर्ग का प्रभाव स्वीकार ही नहीं करते थे। उसने अन्यत्र जीवन को सापेक्ष दृष्टि से उसके व्यापक रूप में देखने पर बहुत ज़ोर दिया है, किंतु कुत्सित समाजशास्त्रियों ने उस ओर देखा ही नहीं। खैर, यह तो बात ऐंगिल्स की हुई जिसका दृष्टिकोण सापेक्ष रूप से संतुलित था। परन्तु परवर्त्ती मार्क्सीय अधिकाँश विचारकों ने भी व्यापक दृष्टिकोण के स्थान पर इसी को अपनाया। परिणाम हुआ यह कि व्यक्ति की 'सदिच्छा' को स्वीकार ही नहीं किया गया। इसका लाभ उठाया उन लोगों ने जो कि व्यक्ति के हनन के माध्यम को उभार कर समाजीकरण के विरुद्ध दीवार खड़ी करना चाहते थे।

टुटपूँजिया वर्ग ने अपने को ऐसे समय में अत्यन्त ही निरीह पाया। उसके पास धन नहीं था, न समाज के उत्पादन के साधन थे। वह तो समाज के दबाव में पिसा जारहा था। उसे यदि कुछ थोड़ी सी राहत थी तो उन देशों में जिनके कि पास उपनिवेश थे, क्योंकि टुटपूँजिया वर्ग को उन उप-निवेशों में नौकरियां मिल जाती थीं। किंतु अधिकाँशतः उपनिवेश रखने वाले देशों में उच्चवर्ग और निम्नवर्ग (जिसमें से कि सेना इकट्ठी की जाती थी) उपनिवेशों की जनता के लहू पर मुटाते थे। निम्न मध्यवर्ग के सामने शिक्षा

से प्राप्त संस्कृति की एक महान परंपरा थी, उसकी अपनी स्वतन्त्रता के लिये होने वाली छटपटाहट थी। समाज शास्त्रीय दृष्टिकोण के विवेचन द्वारा यह प्रमाणित हो रहा था कि टुटपूँजिया निम्न मध्यवर्ग अन्ततः सर्वहारा में बदल जाने के लिये मजबूर हो जायेगा क्योंकि पूँजीवाद अपने साम्राज्यवादी तथा तदुपराँत फासिस्टी रूप में उत्पादन के साधनों पर एकाधिकार (monopoly) करके उसकी शक्ति को चूस लेगा! उस डाँवाडोल अवस्था में फ्रांस में विशेष कर, मार्क्सीय विचारकों ने, इस वर्ग को अपनी संकीर्णता से बरगला दिया। ज्याँ पॉल सार्त्रे जैसे व्यक्तियों के लिये अस्तित्ववादी होना आवश्यक होगया। अस्तित्ववाद के आँचल में यौनवाद अपने प्रकृत रूप में पनपा, कलाकला के लिये, तथा जितने भी प्रतिक्रियावाद के अस्त्र थे, संस्कृति की रक्षा के नाम पर, इस वाद में घुस पड़े।

स्वयं हिन्दी में भी प्रगतिशील आन्दोलन में कुत्सित समाजशास्त्रियों के वर्ग का अभाव नहीं रहा है। और उसने प्रयोगवाद को बढ़ने का मौका दिया है जब कि यदि ढङ्ग से काम होता तो इस विकृति को हिन्दी में उभारने का ही मौका नहीं मिल पाता।

समाज-शास्त्र का अध्ययन वास्तव में है क्या? पहले इसी प्रश्न को देखना आवश्यक है क्योंकि इस समस्या के साथ ही सारी उलझन साफ़ हो जाती है।

एंगिल्स ने कहा है:

जिस प्रकार डारविन ने प्रकृति में विकास का नियम ढूंढ़ा, मार्क्स ने मानव के इतिहास में उसे खोज निकाला। उससे पहले यह बात बहुत से आदर्शों के बीच में छिपी हुई थी कि मनुष्य जाति पहले भोजन, वसन, चाहती है, बाद में विज्ञान, राजनीति, धर्म और कला इत्यादि। और उत्पादन के साधन तथा आर्थिक उन्नति पर ही, किसी विशेष युग की राजव्यवस्था, न्याय, नियम, कला, धार्मिक विचार आदि निर्भर होते हैं और इनकी व्याख्या के मूल में उन्हीं को देखना चाहिए, न कि हम उल्टे हिसाब से काम करें। किन्तु यही सब कुछ नहीं है। मार्क्स ने आधुनिक पूंजीवाद उत्पादन व्यवस्था के विशेष नियमों को, उस मध्यवर्गीय समाज को जिसने यह उत्पादन के

साधन बनाये हैं, खोज निकाला। अतिरिक्त मूल्य की बात ने समस्या पर वह प्रकाश डाला, जोकि पुराने अन्वेषक मध्यवर्गीय अर्थशास्त्री और साम्यवादी आलोचक, नहीं देख पा रहे थे।'१

मार्क्स ने विज्ञान को मनुष्य के उत्पादन के साधनों को बढ़ाने के दृष्टिकोण से एक माध्यम मात्र समझा। वह 'अन्तिम' सत्य में विश्वास नहीं करता था।२

यही वैज्ञानिक समाज-शास्त्र की आधार भूत बातें कहला सकती हैं, यद्यपि इनकी व्याख्या करते समय विभिन्न विचारकों ने अपने विविध विचार प्रस्तुत किये हैं।

पहले लोग धर्म द्वारा की हुई व्याख्या को ही अपने जीवन का लक्ष्य बना कर चलते थे। यद्यपि उनका धर्म उनकी आवश्यकताओं से उद्भूत हुआ था, परन्तु वे इसको नहीं जानते थे। सत् और असत् की भावना मनुष्य की तर्क-बुद्धि में इसलिए उपजी थी कि उसकी संवेदनशीलता ने उसको यह सोचने के लिए विवश किया था कि वही सुखी या दुखी क्यों है, अन्यों की परिस्थिति में उससे भेद क्यों है? भेद अनेक प्रकार का था। वह आधिदैविक, आधिभौतिक आदि विभाजन के अन्तर्गत आता है। प्राचीनों ने सुख दुख की मीमांसा में जो कहा वह उस विशेष युग की समस्याओं का उनके अपने युग विशेष के सीमित साधनों में विश्लेषण था। आज भी विश्लेषण चल रहा है। पुस्तकालयों में मुद्रित पुस्तकों की प्राप्ति के कारण अध्ययन सरल हो गया है जिससे कार्य बहुत बढ़ गया है। इसी अध्ययन प्रवृत्ति की गहराइयों ने मनुष्य की विभिन्न संस्कृतियों को एकत्र किया और उसने नये निष्कर्ष निकाले धर्म ने इस विश्लेषण पर सबसे अधिक रोक लगाने की चेष्टा की।

धर्म अपनी शक्ति को तब तक पुनः प्राप्त नहीं कर सकता, जब तक वह नये परिवर्त्तन को विज्ञान की भांति स्वीकार नहीं कर लेता। भले ही उसके सिद्धाँत शाश्वत हों, किन्तु उन विचारों और सिद्धान्तों का अभिव्यक्तीकरण निरंतर उन्नति चाहता है। धर्म के विकास का अर्थ है कि उसके मुख्य विचार बिखर जायें, अथवा कहें, उस विचार पद्धति से अलग हो जायें जो कि उसमें

१मार्क्सएण्ड साइंस, जे० डी० बर्नल पृ० ५५ २वही पृ० १०

प्राचीन युगों की विरासत के रूप से आगई है, जो तर्क से काम नहीं लेती, संसार का एक कल्पित चित्र संजोती है। धर्म इस प्रकार यदि अपूर्ण विज्ञान से छुटकारा पाये तो वह श्रेष्ठ ही है। वह अपना एक मूल संदेश सुनाने के जोर में रह जाता है। विज्ञान का विकास धर्म के अनेक विश्वासों में परिवर्त्तन चाहता है। उन्हें बढ़ाने, घटाने, समझाने या बिलकुल बदलने की जरूरत पड़ सकती है। यदि धर्म सत्य का प्रगटीकरण है तो यह परिवर्त्तन महत्त्व के विषय को और अधिक प्रगट कर सकेगा। यह तो धर्म को लाभ है और यदि धर्म बाह्य संसार के भौतिक रूप का वर्णन करता है। तब तो यह आवश्यक है कि विज्ञान की खोजों के साथ-साथ जो नये तथ्य प्रगट हों उन्हें धर्म में लिया जाये और परिवर्त्तन के लिये द्वार खोल दिया जाये। इस प्रकार धर्म के विचारों में स्पष्टता आजायेगी। इससे तो धर्म को लाभ ही होगा कि वह विज्ञान के विकास के साथ-साथ निरन्तर अपने विचारों को परिवर्त्तित करता रहे।[१]

धर्म ने काव्य और कला पर संसार के प्रत्येक देश में गहरा प्रभाव डाला है। उसके अंकुशों ने युग विशेषों में युग प्रवृत्तियाँ चलाई हैं। यहां हम धर्म का अर्थ इस विशेष प्रकार से सांस्कृतिक गठन से ले रहे हैं, जिसके प्रति मनुष्य की इतनी आस्था रही है कि उसको छोड़ने में वह ऐहिक और पारलौकिक दृष्टियों से अपनी सर्वाधिक हीनता समझता रहा है। उसे न छोड़ने में उसने अपनी सत्ता का चरमोत्कर्ष देखा है। यह विचार उसे खंडित कर करके भी संसार में उपस्थित करता रहा है। आज जो एक सार्वभौम सहज मानव की कल्पना हो रही है, उस सत्य के मूल को संसार के समस्त धर्मों ने मूलतः आज नहीं, आज से सैकड़ों वर्ष पूर्व ही स्वीकार कर लिया था। परंतु समाज के उत्पादन के साधनों से प्रभावित वस्तु तथ्य द्वारा संभूत के अनेक प्रकार के बन्धन उस पर वाह्यरूप से सांस्कृतिक भेद बनकर छाये हुए थे उन्होंने उस मूल सत्य को प्राप्त रूप से लागू करने में व्याघात डाला था और अंशतः अब भी डाल रहे हैं।

१ रिलीजन एण्ड साइंस : साइंसन द मॉडर्न वर्ल्ड ए० एन० व्हाइटहैड पृ० १८९

इन बन्धनों के मूल में क्या था ? क्या 'सदिच्छा' ही का अभाव वास्तविकता में, व्यवहार और सिद्धान्त में कोई भेद डाला करता था ?

वह उत्पादन के साधन ही का युग-बन्धन था जो यह भेद प्रगट किया करता था।

किन्तु हमें यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना चाहिए कि उनके रहते हुए भी काव्य और कला पर उनका बिल्कुल ही यांत्रिक प्रभाव पड़ा हो, ऐसा नहीं है। यांत्रिक प्रभाव की कल्पना करने वाले कुत्सित समाजशास्त्री हैं, जो कि काव्यकला को उत्पादन की साधन पद्धति का दास बनाये हैं। वे केवल समाज के उत्पादन के साधनों को देखते हैं, कलाकार के व्यक्तित्व और उसके अपने साधनों को भूल जाते हैं। एक सबसे बड़ा सत्य है जो कि मार्क्स भी नहीं कह सका। यदि मार्क्स ने यह भी कह दिया होता तो सचमुच उसकी मेधा की गहराई अपूर्व हो जाती। परन्तु जहाँ वह उसके युग के बन्धनों का परिणाम था, उसके साथ ही यह भी एक कारण था कि संसार की प्राचीन और महान जातियों—भारत और चीन के निवासियों के विषय में उसे घोर अज्ञान था। उसकी दौड़ प्राचीनता में ग्रीक और रोमन साहित्य तक थी, जहाँ मानव का विकास उतना गहरा न था, जितना भारतीय प्राचीन साहित्य में प्राप्त होता है। उसके पीछे सांस्कृतिक परम्परा उतनी नहीं थी जितनी भारतीयों और चीनियों के पीछे है। वैष्णव मानववाद जैसी व्यापक दृष्टि उसे सम्प्रदायपरक यहूदी, ईसाई और इस्लामी चिंतन दे भी कैसे सकते थे। उसने जो कुछ नहीं कहा वह था कि : उत्पादन के समस्त साधनों से युगांतर में प्रभावित होने वाला मनुष्य, मूलतः उनका स्रष्टा ही है और उनके बन्धन उसकी अपनी सीमाएँ हैं, जिनके परे भी वह बढ़ते रहने का स्वप्न देखता रहा है। जिस समाज में सामन्तीय प्रथा थी उसमें चिंतन क्षेत्र में वैष्णव चिंतन का होना इसी मानवशक्ति का परिचायक है। यूरोप में व्यक्ति का विकास उतना हो ही नहीं सका था जितना कि भारत में। जो दार्शनिक स्वतन्त्रता, अपने समस्त बन्धनों के बावजूद भारत में थी वह कहीं नहीं थी। उसकी समानता केवल

चीन में मिलती है।१

इस व्यक्ति की 'सदिच्छा' को हम 'स्वेच्छा' नहीं समझते, परन्तु उसे हम एक महत्त्वपूर्ण वस्तु समझते हैं। जब हम कहते हैं कि कलाकार चाहे किसी भी वर्ग का हो, जब वह कला के सत्य का वर्णन करता है तब वह अपनी सीमाओं से बाहर आ जाता है और व्यापक—मानवीय—कल्याण-भूमि,

1. In an art like sculpture the tools involved have not changed radically from primitive times to our own day. Although science and technology have influenced painting and drawing (for instance, perspective during the Renaissance, researches in color, light and vision during the nineteenth century) their techniques have not changed essentially since the first cave drawings of paleolithic man. And literature did not require machine technology for its great achievements since the Greeks. The highest craftsmanship in the arts was therefere possible before industrialism. On the other hand, obsolescence of the crafts during the rapid development of machine production since the end of the eighteenth century was in large measure responsible for the decline in taste during that period. Once since industrial design was introduced into mass production in our own century has tastes in objects of notility improved. Thus we can see that one reason for the possibility of great art under a low level of production and the inferiority of much art under a high level can be traced to the techniques of production. (Social roots of the arts. L. Harap. (पृ० २२). × ×

The health of this art or its excellence does not necessarily very directly with the level of achievement of production, but depends rather on the integration of the artist with his society. × × Art rather respects the complex forces at work in the mode of production that determine consciousness. (वही).

कलाकार के जाने या अनजाने में ही अनायास, उसे अपने क्षेत्र का प्राणी बना लेती है, तब हम वास्तव में व्यक्ति की उसी 'सदिच्छा' की ओर इंगित करते हैं। यह सदिच्छा संवेदनशीलता पर आधारित होती है और कलाकार सबसे अधिक मानवीय गुण—संवेदन शीलता को अपने भीतर रखता है। यह वैज्ञानिक में नहीं होती। इसीसे विज्ञान की कैसी भी उन्नति कला का स्थान नहीं ले सकती। कला के साधन अल्प होने पर भी उसके भाव ही उसके प्राण होते हैं। हैरप ने लिखा ही है कि शिल्प कला के साधन रूप औज़ार आदिमकाल से अभी तक कुछ विशेष बदल नहीं गये हैं। न कलाकारों के टैकनीक में ही कुछ विशेष भेद आया है।

उत्पादन के साधनों की उन्नति पर ही कलाकार का व्यक्तित्व अपना विकास करता हो, ऐसा आवश्यक नहीं है। कला की उन्नति वास्तव में इस पर निर्भर करती है कि कलाकार की चेतना युग के प्रति कितनी जागरूक होती है। कलाकार की आत्मा का समाज की आत्मा से कितना तादात्म्य हो पाता है।

समाज में अनेक प्रकार की शक्तियाँ काम करती रही हैं। उन शक्तियों का निर्माता मूलतः उत्पादन का ढङ्ग होता है। वह ही समाज की चेतना को बनाता है। कला उन उलझन भरी शक्तियों का विश्लेषण करती है जो उस चेतना को प्रगट करती हैं। अर्थात् कला उत्पादन के ढङ्ग में कार्य्य करने वाली उन अस्पष्ट शक्तियों को प्रतिबिम्बित करती है जो कि चेतना का निर्माण करती हैं।

तब कला का काम केवल यांत्रिक ढंग से ही हम नहीं जाँच सकते। उसके लिये हमें अधिक गहराई में जाने की आवश्यकता है क्योंकि सत ही चीज़ समस्या को स्पर्श नहीं कर पाती।

जार्ज ल्यूकाक्स ने सौन्दर्य्य-शास्त्र के सम्बन्ध में विवेचन किया है।[१]

ल्यूकौक्स ने कहा है कि मार्क्सवादी लोग अतीत की धरोहर की रक्षा करने में बड़े सन्नद्ध थे। केवल सौन्दर्य्य शास्त्र ही नहीं, बल्कि प्रत्येक क्षेत्र में

१. स्टडीज़ इन यूरोपियन रियैलिज़्म—जार्ज ल्यूकाक्स। लंदन १९५०

वे इस काम के प्रति जागरूक रहे और हैं। लेकिन क्लासिक विरासत के प्रति उनकी दृष्टि यह नहीं है कि फिर अतीत की ओर लौट जाये। उनका इतिहास संबंधी दर्शन उनके सामने यह बात स्पष्ट रूप से रख देता है कि अतीत तो चला गया और वह कभी लौटकर नहीं आयेगा। जब मार्क्सवादी क्लासिक विरासत के प्रति जागरूक होता है तब वह मानव के इतिहास का असली विकास देखता है, उसके सौन्दर्य शास्त्र के विकास को देखता है। यह सौन्दर्य्य शास्त्र वह महान कलाओं के अध्ययन में प्राप्त करता है, जिनके द्वारा मनुष्य का चित्रण होता है—समाजगत व्यक्ति का पूर्ण चित्रण होता है।

इतिहास का मार्क्सीय दर्शन मनुष्य के पूर्णरूप का विवेचन करता है, मनुष्य के विकास के इतिहास को साँगोपाँग रूप से देखता है। और वह साथ ही उन अपूर्ण प्राप्तियों को देखता है अथवा उन पूर्णता की अप्राप्तियों को भी देखता है, जो विकास की विभिन्न मंज़िलों में दिखाई देती हैं। वह यह प्रयत्न करता है कि मानवी संबंधों का नियम करने वाले नियमों को ढूंढ़ निकाले जो कि छिपे हुए से रहते हैं, स्पष्ट दिखाई नहीं दिया करते। प्रोल्तारी मानववाद का उद्देश्य यह है कि मनुष्य के पूर्ण व्यक्तित्व (Personality) का पुनर्निर्माण करे और उसे अ विकृतियों तथा अपूर्णताओं से मुक्त करे। जिसको उस पर वर्गीय समाज ने लाद रखा है। यह सैद्धाँतिक और व्यावहारिक दृष्टिकोण ही वे मानदण्ड हैं जिनके द्वारा मार्क्सीय सौन्दर्य्य शास्त्री क्लासिकों के प्रति होने वाली दूरी को पाटता है और इसी के द्वारा वह अपने युग के साहित्यिक संघर्षों में से नये क्लासिकों को भी खोज लेता है। प्राचीन यूनानी, दाँते, शेक्सपियर, गेटे, बालज़ाक और तालसताय, सब ही मानव-विकास के महानयुगों के समर्थ चित्र उपस्थित करते हैं और साथ ही अखंड मानव व्यक्तित्व के पुर्नजागरण के लिये होने वाले सैद्धाँतिक संघर्ष में प्रदर्शक से दिखाई हैं।

साहित्य को यथार्थवादी होना चाहिये। यथार्थ में व्यक्ति चित्रण में एक टाइप का प्रतिनिधित्व करने से ही उसका पूर्णत्व प्राप्त होता है। यदि व्यक्ति को वैचित्र्यमय अंकित किया जाये तो उसका कोई तात्पर्य्य नहीं होता। उसका तो साधारणीकरण होना आवश्यक है। सच्चा महान यथार्थ व्यक्ति

और समाज दोनों का परस्पर निर्भरता पूर्ण चित्रण उपस्थित करता है। यथार्थ जीवित पात्रों की बौद्धिक गत्यात्मकता और भावक्षेत्र को छोड़ नहीं देता। केवल प्रकृतवाद या केवल मनोवैज्ञानिक अध्ययन पूर्ण चित्रण नहीं देते, वे व्यक्ति का समाज से अन्योन्याश्रित संबंध प्रगट नहीं करते। व्यक्ति के अंतस्थ का सच्चा चित्रण तभी हो सकता है जब उसके वाह्य जगत का सच्चा चित्रण हो सके।

ल्युकौक्स ने आगे विवेचन किया है कि पूंजीवादी समाज में ऐसा लगता है कि व्यक्ति और समाज दोनों भिन्न हैं। व्यक्ति के अन्तस्थ को अलग माना जाता है। यह गलत है, क्योंकि मनो-विज्ञान केवल प्रवृत्ति परक नहीं होता। उसका वाह्य जीवन से संश्लिष्ट संबंध होता है और प्रकृत वासनाओं का चालन भी वाह्य परिस्थितियों पर ही निर्भर होता है।

ल्युकॉक्स के इस विवेचन से हम सहमत हैं। किंतु आगे चलकर वह भी प्रायः वही भूल करता है जो यांत्रिक मार्क्सवादी करते हैं। वह मानता है कि व्यक्ति जो लिखता है और जो उसका सिद्धाँत होता है उनमें कभी-कभी भेद होता है। उदाहरण के लिए बाल्ज़ाक को उसने प्रस्तुत किया है। बाल्ज़ाक के समय में पूंजीवाद का विकास हो रहा था। जोला वामपक्षी लेखक था, बाल्ज़ाक पुराने राजतंत्र को चाहता था। किंतु बाल्ज़ाक ने व्यक्ति को जब समाज में रखकर चित्रित किया तब वह महान् यथार्थ उपस्थिति किया जो ज़ोला वामपक्षी होकर भी न कर सका। भले ही बाल्ज़ाक अपनी ओर से प्रतिक्रियावादी था, किंतु उसने यथार्थ का चित्रण कर के दलित कृषक वर्ग को बढ़ाया, ठीक जैसे वर्ग समन्वय और अहिंसा का उपदेश देने वाले ताल्सताय के द्वारा होगया कि समाज की कुरूपता अपने जीवित और प्रेरक विद्रोही स्वरूप में मनुष्य को उठाने लगी।

यथार्थ चित्रण की इस इच्छा को मार्क्सवादी कलाकार की सत्य की भूख कहते हैं, जिसे नीतिशास्त्रीय शब्दों में, कलाकार की ईमानदारी कहा जा सकता है। इसमें कलाकार ईमानदारी से व्यक्ति को जब समाज में रख कर देखता है, तब वैसे ही देखता है जैसे कि पात्र समाज के यथार्थ में होता है, उस समय वह पात्र को वैसे रंगकर नही धर देता जैसे वह चाहता है। वह

समाज और व्यक्ति का विकृत चित्रण नहीं देता। महान कलाकार यही करता है, निम्नश्रेणी का कलाकार अपनी गढ़न्त के अनुकूल पात्र बनाता है, अपने आदर्श को ऊपर थोपने का प्रयत्न करता है। जो लेखक अपने पात्रों के चरित्रों का विकास वस्तुस्थिति के यथार्थ के अनुकूल नहीं करके, अपनी गढंत के अनुसार करता है, वह अच्छा लेखक नहीं होता।

हिन्दी में विकृत चित्रण किस रूप में ये कुत्सित समाजशास्त्री करते रहे हैं, यह तो प्रगट ही है। उस ओर तो कहना ही व्यर्थ है। हम यही कहना चाहते हैं कि सब कुछ मान कर भी ये मार्क्सवादी एक सत्य को स्पष्ट नहीं कहते। वे यह नहीं कहते कि लेखक में वह ईमानदारी क्या है जो कि उसे सत्य की ओर प्रेरित करती है। लेखक भी तो वर्गगत समाज का पात्र होता है। उत्पादन के साधनों के संबंध में आया व्यक्ति मूलतः आर्थिक नियमानुसार अपने वर्ग की रक्षा करता है। लिखते समय भी लेखक का एक अपना आदर्श होता है, जिसके लिये वह लिखता है। वह कौन सी महानता है कि लेखक को यथार्थ के संपर्क में लाकर उसके अपने आदर्श पर समाज के यथार्थ को लाद देती है। वह ईमानदारी क्या वर्गगत स्वार्थ को काटती नहीं? मार्क्स से आज तक उसका विश्लेषण करने में, क्या जान निकलती है, जो उसे छोड़ा जाता रहा है? क्या उस ईमानदारी की जड़ है? क्या उसका समाज विकास है? व्यक्ति कलाकार में वह क्यों होती है? क्या वह केवल व्यक्ति कलाकार में होती है या कलाकार न होने वाले सब व्यक्तियों में होती है। क्या यह अजीब बात नहीं कि ऐसा होता है। मार्क्स के अनुसार तो यह विवेचन है—

१] व्यक्ति समाज द्वारा निर्मित होता है।

२] समाज अपने उत्पादन के साधनों पर निर्भर होता है। वे ही समाज चेतना का निर्माण करते हैं।

३] इस प्रकार व्यक्ति उत्पादन के साधनों पर निर्भर होता है, क्योंकि उसकी चेतना का निर्माण समाज चेतना द्वारा होता है।

केवल इतने में तो व्यक्ति का अपनत्व कुछ होता ही नहीं। इसके अनुसार व्यक्ति का कलाकार होना असंभव है। अब मार्क्स ने देखा कि व्यक्ति अपनी अभिव्यक्ति भी करता है। क्यों? अपने समाज के तादात्म्य के लिये।

तब उसने कहा कि—

१] व्यक्ति समाज का अङ्ग है।

२] किंतु व्यक्ति यौंत्रिक नहीं है।

३] समाज व्यक्तियों के समूह से बनता है।

४] व्यक्ति समाज में उसका अङ्ग होकर भी अपना व्यक्तित्व रखता है।

परन्तु उसने उस 'व्यक्तित्व' को स्पष्ट नहीं किया। क्यों? इसका उत्तर यों है—

१] मार्क्स के अनुसार व्यक्ति समाज का अङ्ग होने से मूलतः वर्गगत होता है।

२] वर्गगत व्यक्ति समाज के उत्पादन के साधनों के संबंधों द्वारा निर्मित चेतना को प्राप्त करता है।

३] क्योंकि व्यक्ति वर्गगत जीवन से उठकर अलग नहीं हो सकता अतः उसका वर्गगत होना आवश्यक है।

तब 'व्यक्तित्व' को वह स्पष्ट कर भी कैसे सकता था? परन्तु मार्क्स को फिर चिंता हुई। यह चिंता उसे साहित्य ने दी। उसने देखा कि साहित्य में—

१] लेखक वर्गगत समाज का प्राणी होता है।

२] परंतु वह अपने वर्ग के स्वार्थ की जगह को कायम रखना चाह कर भी, या न चाह कर ही, कभी-कभी, यथार्थ चित्रण करते हुए अपने वर्ग का विरोध करता है।

ऐसा क्यों करता है वह? तब मार्क्स ने यों कहा :

१] व्यक्ति जब उत्पादन के साधनों से सीधा संबंध रखता है तब व्यक्ति व्यक्ति में वर्गगत स्वार्थ बीच में आता है, अन्यथा नहीं।

२] यद्यपि मार्क्स ने यह स्वीकार किया कि व्यक्ति समाजगत होकर वर्गीय जीवनगत होकर भी सीधे ही उत्पादन के साधनों से संबंध न रखने के कारण अ शतः स्वतन्त्र हो जाता है, परंतु वह स्वतन्त्रता के इस रूप कोसुलझा नहीं सका। उसने उसकी व्याख्या करते हुए कहा कि वह लेखक की सत्य के प्रति खोज होती है, ईमानदारी होती है, जब वह अपनी जड़ें आप काटता है।

३] और इस प्रकार अपने सैद्धाँतिक तथा आर्थिक स्वार्थ काटने की क्रिया को उसने शोषित समाज का प्रभाव कहा और यह प्रमाणित किया कि व्यक्ति भले ही चाहे कुछ और, वह यथार्थ के संबंध में आकर लिख कुछ और जाता है, जैसे वह उस समय चेतन नहीं रह जाता।

मार्क्स ने यह नहीं देखा कि यथार्थ के समीप आया कलाकार, भले ही अपने सैद्धांतिक रूप में प्रगति का विरोधी हो, जब यथार्थ चित्रण में अपने वर्ग का विरोध करता है, तब भी वह चेतन रहता है। यदि हम मानलें कि कला के क्षेत्र में कलाकार का अपनत्व न देखना चाहिये तो हम कला के अध्ययन की एक मूल शक्ति खो बैठेंगे। टाइप के चित्रण का अर्थ यदि व्यक्ति वैचित्र्य का विरोध है, तो कलाकार के सर्वत्र झांकते व्यक्तित्व का नहीं।

मार्क्स की इस अस्पष्टता के द्वन्द्व को ही ऐंगिल्स से लेकर आज तक के मार्क्सीय आलोचकों में पाया जाता है। वे यह तो कहते हैं कि लेखक जब यथार्थ चित्रण में सत्य के प्रति जागरूक होता है, उसके व्यक्तिस्वार्थ पर समाज कल्याण आता है, (भरत के अनुसार साधारणीकरण होता है और मधुमती भूमिका तैयार होती है, तथा रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार व्यक्ति-वैचित्र्य मिटता है) तब उसमें ईमानदारी होती है, किन्तु वे स्पष्ट नहीं कहते कि उस समय—

१] व्यक्ति समाज का अंग होकर भी—
२] समाज उत्पादन के साधनों पर निर्भर होकर भी—
३] उत्पादन के साधनों से समाज चेतना का निर्माण होने पर भी—
४] और समाज चेतना से व्यक्ति चेतना का निर्माण होने पर भी—
५] तथा व्यक्ति के अपने समाज के आदर्शों अर्थात् वर्गीय जीवन के स्वार्थ में निहित रहने पर भी—

जो ईमानदारी होती है, वह उसकी 'सदिच्छा' होती है। यह सदिच्छा 'स्वेच्छा' नहीं है, क्योंकि यही उपर्युक्त पाँच बातें व्यक्ति को 'स्वेच्छा' नहीं रखने देतीं। उसमें सदिच्छा छोड़ती हैं। इस 'सदिच्छा' को न मानने से ही मार्क्सीय आलोचक संदेह प्रधान होते हैं, मित्र को शत्रु बनाते हैं, यांत्रिक

होते है, अपनी अति में कुत्सित समाज शास्त्रीय बनते हैं और चालबाजी की अवसरवादिता को अपने साधन प्राप्त करने के तरीके बनाकर किसी भी नैतिकता को मानने से अस्वीकार करते हैं, स्वतन्त्र चेतना का हनन करते हैं, दिमागी गुलाम बनते हैं और राजनीतिक नेताओं के तलवे चाट कर कलाकार पर हुक्म चलाने का मुग़ालता रखते हैं, और कला और वस्तु के द्वन्द्व को खड़ा करते हैं। व्यक्ति की ईमानदारी को सिर्फ पुरानों में देखते हैं ताकि अपनी चतुराई दिखा सकें और नयों के प्रति अपनी हुकूमत चलाने की बात करते हैं —जैसे कलाकार कोई मशीन हो। इसे अभी हम विस्तार से देखेंगे।

क्या इस 'सदिच्छा' को मानने से हम यह कह सकते हैं कि व्यक्ति समाज से परे होता है? उस पर समाज के उत्पादन के साधन का प्रभाव नहीं पड़ता?

नहीं ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि स्वेच्छा व्यक्ति की स्वार्थ परायण वृत्ति है, संकोच परकता है। सदिच्छा मनुष्य की वह मूल चेतना है जिसको जिजीविषा जीने की इच्छा कहते हैं, वह अपने व्यापकतम स्वरूप में लेखक में प्रगट होती है, कलाकार में प्रगट होती है, वैज्ञानिक में नहीं होती। वह सदिच्छा ही असंतोष और सामाजिक असाम्य तथा विकृतियों का तब भी विरोध करती रही थी जब समाज के विकास के वैज्ञानिक नियम भी ज्ञात नहीं थे।

यह 'सदिच्छा' जो नहीं समझता, वह न मनुष्य की सौन्दर्य की भूख समझ सकता है, न यही समझ सकता है कि मनुष्य के मस्तिष्क का भौतिक अपने गुणात्मक परिवर्त्तन में कितना सशक्त और चेतन हो जाता है। वह खाओ पियो मरो वाला व्यक्ति है, वह मनुष्य की उस तृष्णा को भी नहीं समझ सकता जो उसमें ऊपर उठने की प्रेरणा करती है, जिसने मार्क्स को उसके अपने वर्ग स्वार्थ से अलग किया, जिसने ऐंगिल्स को अपने वर्ग स्वार्थ से अलग किया। यह सच है कि ऐंगिल्स ने कहा था कि युग की आवश्यकताओं ने मार्क्स को जन्म दिया। यदि मार्क्स न होता तो कोई अन्य व्यक्ति उस कार्य्य को करता, परन्तु ऐंगिल्स की यह दृष्टि 'सदिच्छा' को कहीं भी स्वीकार न करने के कारण इतनी संकीर्ण थी। सवाल उठता है कि जब युग तैयार था तो दस बीस मार्क्स क्यों न जन्मे? युग तैयार होने से ही व्यक्ति

जन्म ले यह आवश्यक नहीं है। महान युगों में भी महानकलाकार नहीं होते। आइन्स्टाईन जैसा वैज्ञानिक जनशासन प्रदेश सोवियत भूमि ने क्यों न पैदा किया? याँत्रिकता का त्याग करना होगा। यह सत्य है कि युग भूमि तैयार करता है, किन्तु व्यक्ति तभी महान होता है जब उसका व्यक्तित्व या उसके व्यक्तित्व का विकास समाज की आवश्यकता से तादात्म्य पा जाता है। विज्ञान की अनेक आकस्मिक खोजें—जैसे एक्सरे आदि का प्राप्त होना तो किसी भी नियमन के आधीन नहीं। अवसर की बात थी। व्यक्ति और समाज के इस संबंध से प्रमाणित होता है कि सदिच्छा से व्यक्ति का समाज से तादात्म्य होता है। वह व्यक्ति भी समाजगत होता है। यदि यह नहीं माना जाता तो हम उस अवतारवाद के दैवी सिद्धाँत को मान बैठते हैं कि जब जिसकी आवश्यकता होती है तब वही आवश्यकता पूर्ण करने को वैसा ही अवतार या रक्षक आजाता है। हम यह नहीं कह सकते कि मार्क्स और एंगिल्स जो कि अपनी युग चेतना से परे न थे, क्योंकि वे भी मनुष्य थे, किस सीमा तक अपनी यहूदी और ईसाई संस्कृतियों के पैगम्बरीय अवशेषों से प्रभावित थे, क्योंकि संस्कार तो बहुत गहरे होते हैं, कि उन्होंने युग की आवश्यकता के सामने व्यक्ति की सदिच्छा को स्थान ही नहीं दिया। यदि यह 'सदिच्छा' अपना सम्यक् स्थान पाकर यह स्वीकार करवा लेती है कि उसका अपना महत्त्व है तो विश्लेषण में याँत्रिकता नहीं आती। हम यह नहीं कहते कि 'सदिच्छा' को मानते समय हम यह स्वीकार करलें कि समाज में वर्गगत चेतना की विकृतियां नहीं हैं, या यह कि वर्गस्वार्थ कुछ नहीं हैं, सदिच्छा को जगा कर केवल हृदय परिवर्त्तन करना चाहिये। नहीं। किन्तु हम यह भी नहीं मानते कि सदिच्छा होती ही नहीं।

हम केवल इतना कहते हैं कि यह 'सदिच्छा' समाज में वर्गगत स्वार्थों में बद्ध रहती है। जो भी इसे उठाकर मुक्त करता है—आँशिक या पूर्णरूप से वही जनकल्याण करता है। वह तभी मुक्त होती है जब उसका वैयक्तिक के स्थान पर समाजीकरण होता है। और कलाकार के क्षेत्र में ऐसा सबसे अधिक होने के कारण समाज शास्त्र के वैज्ञानिक विकास से अनभिज्ञ प्राचीन लेखकों में जो ईमानदारी है, यथार्थ चित्रण है। सत्य के प्रति उदार तन्मयता है, वह

इसी व्यापक दृष्टिकोण का परिणाम है। हमें यह नहीं सोचना चाहिए कि सदिच्छा एक स्वतंत्र सत्ता है और समाज के स्वार्थ परक बंधन उसे नहीं बांधते। बाँधते अवश्य हैं और रोकते भी हैं। इसीको स्पष्ट न समझने के कारण मार्क्स ने उलझी सी बात कही थी कि उत्पादन के साधनों के नियमन से जब व्यक्ति और व्यक्ति का आर्थिक संबंध नहीं होता, तब व्यक्ति का व्यक्ति के प्रति मानवीय मूल्यगत दृष्टिकोण होता है। उत्पादन के साधन का प्रत्यक्ष नहीं तो अप्रत्यक्ष रूप अवश्य होता है। ऐंगिल्स स्वयं पूंजीपति व्यापारी था। मज़दूरों का शोषक था, क्योंकि मुनाफ़ा अतिरिक मूल्य से आता था। लेनिन ने कहा कि एंगिल्स उस धन से मार्क्स को पालता था अतः वह एक प्रतिक्रियावादी काम न था, बल्कि वह व्यापार एक अच्छी चीज़ था, क्योंकि यदि ऐंगिल्स व्यापार न करता तो मार्क्स जीवित न रहता, अर्थात् ऐंगिल्स यदि मज़दूरों का शोषण न करता तो मजदूरों के अधिनायकत्व के सिद्धाँत का निर्माता मार्क्स ही समाप्त होगया होता। यह तो कोई बात नहीं रही। कहना तो चाहिये था कि जीवित रहने के लिये आवश्यक था कि कुछ किया जाए। ऐंगिल्स मज़दूरों के साथ ही खड़ा होकर पूंजीपतियों से लड़ा था। पूंजीवाद का समय था। व्यक्ति की स्वेच्छा यह नहीं कर सकती कि समाज हो पूंजीवादी और वह अकेला बन जाये असली साम्यवादी। शोषित के या शोषक रूप में कहीं न कहीं या तो उसकी पूंछ दबेगी या वह किसी की पूंछ दबायेगा। शोषण पर कायम समाज में अकेला व्यक्ति उस पद्धति से कैसे स्वतंत्र रह सकता है? कभी नहीं रह सकता। नहीं रह सकता, तभी तो समाज को बदलने की आवश्यकता है, ताकि व्यक्ति शोषण हीन रूप से रह सके।

तो उत्पादन के साधन के सीधे या टेढ़े संबंध से नहीं, वह तो व्यक्ति की सदिच्छा की बात है। निम्न मध्यवर्ग जिसका उत्पादन के साधनों पर सीधा अधिकार नहीं, उसकी मानसभूमि क्या अपनी परम्परा में पूंजीपति वर्ग की हामी नहीं भरती? अतः 'सदिच्छा' को उसकी ऊपर विस्तार से लिखी गई सीमाओं के अन्तर्गत रख कर मानना आवश्यक है। वही यांत्रिक और विकृत दृष्टिकोण को रोकती है।

लुकॉक्स ने इस प्रश्न पर प्रकाश डाला है कि लेखक किस प्रकार ईमानदारी से यथार्थ का चित्रण करता है और वह उसी ईमानदारी की प्रशंसा करता है। किंतु उसने प्रश्न उठाया है कि आज का लेखक यदि कोई रचना लिखे और वह भी पुरानों की सी ईमानदारी अर्थात् यथार्थ चित्रण करे तो वह श्रेष्ठ होगा या नहीं।

आज का लेखक और पुराना लेखक, दोनों की दृष्टियों में अन्तर है। पुराना लेखक समाज की व्याख्यात्मक दृष्टि नहीं रखता था। उसके अपने वर्ग स्वार्थ थे जिन्हें वह उचित या न्यूनाधिक उचित समझता था। उसका आदर्श यही था कि वह वर्गीय समाज को स्थापित रखने वाले सिद्धांतों का प्रचार करे। और जाने या अनजाने वह ऐसा ही करता भी था। किंतु आज का लेखक समाज के विकास का आर्थिक और वैज्ञानिक विश्लेषण जानता है। जो बातें पुराने लेखक के लिये रहस्य थीं वे आधुनिक लेखक के सामने रहस्य नहीं हैं। अतः वह दूसरी दृष्टि रखता है। प्रगति को मानने वाला लेखक समाज के शोषण की पद्धति को जानता है और वर्गहीन समाज की स्थापना की ओर उन्मुख है। पुराना लेखक सिद्धांत रूप में कुछ और मानता था, परन्तु जब वह समाज का यथार्थ चित्रण करता था तब वह उस स्थान पर अपने आदर्श या सिद्धांत पात्रों पर लागू नहीं करता था, वरन् समाज यथार्थ को वैसा पाता था, वैसा ही चित्रण करता था। इसी से उसकी कला महान बन गई। हालाँकि वह तो ज़मीदार (बालज़क का विषय है) वर्ग की तारीफ़ चाहता था पर विद्रोही किसानों का चित्रण उसने इतना अच्छा कर डाला कि उसने अनजाने ही प्रगति के खेमे को मदद पहुँचा दी। पुराना लेखक इसीलिये अच्छा लगता है कि उसने अपने युग का यथार्थ चित्रण किया। हम यह नहीं देखते कि उसकी रचनायें तत्कालीन प्रगतितत्त्व कितना होकर रह गया। हम तो यह देखते हैं कि आज उसके साहित्य में क्या स्थायी मूल्य है। वह स्थायी मूल्य उसका यथार्थ चित्रण है। जो यथार्थ का चित्रण न करके अपनी कल्पना का पात्र उपस्थित करता है वह महान लेखक नहीं है। आधुनिक लेखक के सामने यही समस्या है। वह यदि केवल समाज का यथार्थ चित्रण करता है तो क्या अपने आदर्श के प्रति बफ़ादार रहता है।

यदि वह अपने आदर्श के अनुकूल यथार्थ को चित्रित नहीं करता तो क्या वह भी पुराने लेखक की भांति है जिसे समाज की वैज्ञानिक व्याख्या करनी आती थी। और दूसरी बात यह उठती है, कि क्या अपने आदर्शों का चित्रण न करने वाले लेखक केवल दर्शक ही नहीं है? यदि वह केवल दर्शक है जो केवल समाज यथार्थ का चित्रण किया करे तो फिर वह आगे की प्रेरणा कहाँ देता है?

लुकॉक्स ने यहाँ आदर्श की व्याख्या करते समय बहुजन हित के प्रश्न को मूल में रखा है। सत्य है कि आदर्श की व्यापकत्व और सर्व कालीनता इसी पर आश्रित है कि वह कितना बहुजन कल्याण के आधार पर निर्भर है। तभी लुकॉक्स ने सोवियत् साहित्य को ही यथार्थ की असली परंपरा में गिनाया है। किंतु हमारे सामने कई और भी प्रश्न हैं। क्या पुराने लेखक अपने आदर्शों से वर्गीय समाजगत सिद्धांत रख कर, यथार्थ चित्रण करके आगे का नेतृत्व नहीं करते थे? क्या दाते ने नरक का चित्रण करके प्रकाश नहीं फैलाया। क्या तुलसी ने इस्लाम के विरुद्ध मोर्चा खड़ा नहीं किया? इत्यादि। आज भी आदर्श की जगह आदर्श है, यथार्थ की जगह यथार्थ है। जब आदर्श और यथार्थ और यथार्थ को एक करके देखा जाता है तब प्राण-हीन रचना का जन्म होता है जो सोवियत् उपन्यासों में क्रांति के बाद के उपन्यासों में मिलता है, ऐसी रचनायें जिनके पैटर्न हैं, जिनका वैविध्य चरित्र का नहीं, कथानक की नहीं—एक राज्य निर्माण के अर्द्धमानवीयकरण वाले दस्तावेज से वे उपन्यास क्रांति से पूर्व के उपन्यासों के पाँवो को भी नही छूते। मैं अन्यत्र बता चुका हूँ [१] कि उनमें राजनीतिक कितने अधिक हावी हो गये हैं।

लुकॉक्स के दृष्टिकोण को ही कम्यूनिस्ट विचारकों ने व्यक्तिवादी कहा है। मेरा दृष्टिकोण तो उनकी राय में गोली मार देने लायक ही होगा। परन्तु वैज्ञानिक विवेचन यही कहता है कि लेखक की सदिच्छा का मान करना ही विकास का मार्ग है। राज्य तो राजनीतिज्ञों के हाथों में होता है। एक

१—देखिये रांगेयराघव का निबंध—रसतत्त्व और मार्क्सीय समीक्षा—आलो-

समय ऐसा होता है कि कोई विशेष दल सशक्त हो उठता है। और उस समय न्याय की जगह अन्याय हो उठता है। किसी भी परिस्थित में मैं यह मानने को तैयार नहीं हूँ कि कोई राजनीतिक इतना योग्य होता है कि वह लेखक की रचना का परीक्षक बन सके। हो सकता है कि कम्युनिस्ट, इस सर्वाधिकार को न पाने के कारण, जो कि उन्होंने सिद्धांत जाल खड़ा करके हस्तगत कर लिया है, मुझ पर खिझला उठें और अपने रटे हुए शब्दों में मुझे प्रतिक्रियावादियों का प्रचारक कहें किन्तु गालियों से सत्य नहीं ढँका जा सकता। अगर कम्युनिस्ट नेताओं में इतनी काबलियत है कि तलवारों के डर से लेखक उनकी ओर मुँह बाये बैठे रहें, उनकी आज्ञा को सुनें कि स्तालिन हमसे ये चाहता है या माओ हमसे यह चाहता है, तो मैं समझता हूं कि उस परिस्थिति में कलम तोड़कर फेंक देना ज़्यादा इज्ज़त की चीज़ है, बनिस्बत इसके कि जान के खतरे से हाँ में हाँ मिलाई जाये।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि लेखक का आदर्श उतना बड़ी वस्तु नहीं है, जितना बड़ा समाज का यथार्थ चित्रण है। प्रयोगवादियों में जो सबसे बड़ी प्रतिक्रियात्मकता है वह इसी यथार्थ के प्रति उपेक्षा है। वे एक ऐसे व्यक्ति का चित्रण करते हैं जो उनकी मनस्थिति से मिलता है। उसको देखकर भी समाज के ही एक अङ्ग का परिचय मिलता है, किन्तु वह उदात्त भावना को जन्म नहीं देता, वह विकृति का परिचायक होता है। जिस लेखक की रचना में हमें सत् के लिये उठी हुई आवाज़ मिलती है। उसी में हमें सत् की तुलनात्मकता में असत् का भी चित्रण प्राप्त होता है। राम के साथ ही रावण होता है। कृष्ण के साथ ही कंस होता है। जब कोई खल नायक नहीं होता तब भी भारतीय साहित्य ने उसका सृजन किया है ताकि नायक की महानता प्रगट की जा सके। ऐसे ही चित्रण में बुद्ध के विरुद्ध मार का सृजन किया गया था। तो कहने का तात्पर्य यही है कि विकृति के चित्रण में ही समाज के विकृत भाग का चित्रण होता है। आज का प्रयोगवादी उस विकृति का चित्रण करके दो काम करता है—

१) एक तो उसे अपरूप बनाने की चेष्टा कर के उसके प्रति सहानुभूति पैदा करना चाहता है।

२) दूसरे उसको रहस्यमय बनाने का यत्न करता है। किन्तु दोनों में से एक भी बात नहीं हो पाती।

पहली बात में सहानुभूति न पैदा होकर वैचित्र्य जन्म लेता है और दूसरी बात में रहस्य की भावना न पैदा होकर अश्रद्धा का भाव अपना स्थान बना लेता है।

इनके अतिरिक्त विकृति का कोई मूल्य भी नहीं है।

यह तो सत्य ही है कि मनुष्य मनुष्य समान है। हर मनुष्य एक ही भाँति संसार में आता है और उसका अन्त भी मृत्यु में होता है। उसके रागद्वेष समान होते हैं। फिर विकृति कहाँ से आती है? पुराने समय में लोगों ने इस प्रकृति के भेद की तीन श्रेणियाँ बनाई थीं।

१] सतोगुण प्रधान।
२] रजोगुण प्रधान।
३] तमोगुण प्रधान।

उन्होंने व्यक्तिमात्र को इन तीनों श्रेणियों के अन्तर्गत रखा था, क्योंकि उन्होंने देखा था कि हर वर्ग में अच्छे, मध्यम और बुरे लोग होते थे। इस विभाजन से ३ ही नहीं और भी प्रकृतियाँ बनती हैं। जैसे—

१] सत् + रज
२] रज + तम
३] कहीं कहीं तम + सत्।

और इनकी प्रकृतियों का योगमार्ग में प्रयोग करने का मार्ग भी बताया गया। प्रकृतियों के इस रूप को भले ही अपने पुरातन रूप में स्वीकार न किया जाये, पर चरित्र के वैविध्य में यह कोटियां अब भी वर्त्तमान हैं। एक साधन पाकर बौरा जाता है, दूसरा मस्त हो जाता है, तीसरा विनीत बनता है। ऐसा इसी परम्परा के कारण है। प्राचीन साहित्य ने भूरिशः यह बताया है कि अच्छाई के संबंध में वर्ग नहीं व्यक्ति को देखना चाहिये। इसी आधार पर भावभूमि को समान माना गया।

किंतु अब हम व्यक्ति को उसके समाज से अलग करके नहीं देखते। हम उसको उसके वर्ग, उसके समाज उसके संसार में रखकर देखते हैं। और हम

इस निष्कर्ष पर पहुंचते है कि—

१] मनुष्य की भावभूमि एक सी होती है ।

२] प्रत्येक मनुष्य मूलतः अच्छा बनना चाहता है, चाहे वह शोषक हो या शोषित ।

३] यह भावना ही उसकी सदिच्छा होती है । उसकी प्रकृत प्रवृत्ति इसके मूल में जिजीविषा बनकर रहती है ।

४] जिजीविषा अपने सामाजिक स्वरूप में । लोक-कल्याण की व्यापक आधार भूमि ग्रहण करती है ।

५] किन्तु समान रागद्वेष वाला व्यक्ति, समान सदिच्छा रखकर भी, अपनी अच्छाई का प्रयोग नहीं कर पाता ।

६] क्योंकि उस पर बंधन होते हैं । वे बंधन धन के, समाज के, जाति के, धर्म के तथा अन्य इसी प्रकार होते हैं ।

७] इन बंधनों को उत्पादन के साधनों से प्रभावित समाज व्यवस्था का प्रभाव कहा जा सकता है । यह व्यवस्था ही यदि स्वार्थ के कोण बनाती है तो व्यक्ति की सदिच्छा पर घिर आती है और सदिच्छा स्वतन्त्र नहीं रहती । पुराने लोगों ने इसीलिये युक्ति के लिये यह आवश्यक बताया था कि व्यक्ति अपने को इस माया जाल से अलग करले । समाज पक्ष में पराजित लोगों का यही एक हल था, जो वे भक्तिपक्ष में खोजकर निकाल सके थे । इसी कारण जनक और बुद्ध राज्य छोड़ कर चले थे । भारतीय जीवन में वैराग्य और त्याग की कथाएं इसी सदिच्छा के कारण मिलती हैं, जिसके कारण मनुष्य ने अपने को तथा अन्यों को सुखी बनाने का यत्न किया था ।

८] अतः यह स्पष्ट हुआ कि समान भावभूमि वाले मनुष्य की सदिच्छा पर वर्गीय संस्कृति और समाज की व्यवस्था अपने बंधन डाल देती है । यदि वह सदिच्छा स्वतन्त्र रह पाती तो भरत का मत रसवाद में पूर्ण था । किन्तु रसवादी मत व्यक्तिपक्ष में भावभूमि मात्र को देखता है । उन कारणों को नहीं देखता जिनसे भावभूमि पर असर पड़ता है । मनुष्य की प्रवृत्ति भी समाजीकरण के विकास मार्ग में

अपने को परिष्कृत करती रही है। भाव ने उसे मांजा है। भाव को विचार ने प्रभावित किया है। सगोत्र विवाह की अनुभूति का संस्कार में पाप बन जाना इसका प्रमाण है कि मनुष्य का समाजीकरण अपने विकास मार्ग में उसको परिष्कृत करता है और विचार भाव को प्रभावित करके अंततोगत्वा प्रवृत्ति को ही परिष्कृत कर देता है।

स्थायी तो कुछ नहीं। स्थायी जो कहा गया है वह वही है जो अन्यों की तुलना में अधिक स्थायी है। ऐसे ही मनुष्य के भाव हैं। साहित्य उन्हीं भावों पर आश्रित है। रसवाद इसी भावभूमि में रहता है। परन्तु हम स्पष्ट कर चुके हैं कि मनुष्य की भावभूमि पर उसके समाज का प्रभाव निरन्तर पड़ता है। यदि इसी जड़ता को पकड़ रखा जाये कि सब कुछ है किंतु हमें तो साहित्य का अन्तिम सत्य देखना है और वह मनुष्य की समान भावभूमि है तो सवाल उठता है कि साहित्य में, काव्य में क्या उसी भावभूमि का चित्रण हुआ है? रामायण में कथाएं क्यों हैं? राम के चरित्र की ज़रूरत ही क्या है? रस नौ हैं, उनके अन्तर्गत स्थायी भाव हैं, स्थायीभावों के अन्तर्गत संचारी भाव हैं। बस रस की विशेषता का वर्णन कर दिया, फिर भावों का चित्रण कर दिया। यही काफी है। किसलिये समाज बीच में लाया जाता है, किसलिये परिस्थितियां वर्णित होती हैं? किसलिये रसवादी सत् और असत् का चक्कर उठाते हैं। सहृदय की बात करते हैं? ये सब बातें साहित्य में आती हैं, बल्कि स्फोटवाद आदि के साथ तो शैवागम का दर्शन भी घुस आता है। रीति, वक्रोक्ति, अलंकार, ध्वनि आदि संप्रदाय भी क्या अपनी त्रिकोणावस्था के वाह्य परिवेशों में समाज पक्ष की परोक्ष स्वीकृति नहीं दे देते? रसवादी कहते हैं कि हम इस सब को मानते हैं किन्तु मूल क्या है? भावभूमि ही न? हम भी मूल वही मानते हैं, किन्तु जब भावभूमि के माध्यम से व्यक्ति को उसके समाज से अलग करके देखा जाता है हम उसे अधूरा सत्य मानते हैं। समान भावभूमि की मर्यादा मानना दास प्रथा वाले समाज पर सामंतीय व्यवस्था की प्रगति थी। आज उसी मूलभूमि को और विस्तृत करने की आवश्यकता है।

हमें समानभावभूमि को तो स्वीकृत ही करना है, किन्तु व्यक्ति को समाज और युग से अलग करके देखना नहीं है।

सदिच्छा पर जो बंधन हैं, वे ही प्रमाणित करते हैं कि वर्ग विशेष या परिस्थिति विशेष में व्यक्तियों की समानता भी स्वार्थ की बाधाओं से भिन्न कार्य्य करती है। उस सदिच्छा की अवस्थिति तो हम स्वीकार करते हैं किन्तु मार्क्स की बात को उसकी स्वीकृति के साथ आवश्यक मानते हैं कि वह सदिच्छा स्वतन्त्र नहीं होती, उस पर समाज अपना प्रभाव डालता है।

— २ —

साहित्य रचना का उद्देश्य है : मानव के यथार्थ सत्य में छिपे हुए आत्मा के सौन्दर्य्य को खोजकर भाव के माध्यम से, विचार से समन्वय करके प्रस्तुत करना। इस उद्देश्य को साहित्य तभी प्राप्त कर सकता है जब वह युग के प्रति ईमानदार हो और बहुजनहिताय ही अपना समर्पण करे। साहित्य की रचना गंभीर दायित्व तो है ही, वह मानव अनुभूति का निरंतर होता रहने वाला परिष्कार है। यह दायित्व कलाकार के व्यक्तित्व से तब उत्पन्न होता है, तब उसकी मर्यादा बँधती है जब वह समाज के विविध रूपों के सम्बन्ध में आता है। निरपेक्ष मानव अर्थहीन है, सापेक्ष मानव ही बाह्य मर्यादा को अपनी 'सदिच्छा' अर्थात् मानवमात्र में निवसित समान भावभूमि पर परखता है और उसे साहित्य में प्रगट करता है। उसका केन्द्र और उसकी व्याप्ति व्यक्ति और समाज का पूर्ण समन्वय है।

कोई भी शक्ति जो कलाकार के इस विकास को रोकती है, मानवीय संस्कृति का नाश करती है। इसे रोकने वाले अर्थात् इस नाश से अग्रदूत के रूप में मैं साम्राज्यवादी संस्कृति को मानता हूँ जो जनवाद के बुनियादी सिद्धान्तों का विरोध करती है। किंतु जनवाद के नाम पर प्रचलित बहुत सी भ्रांतियों को साथ ही स्पष्ट कर देना चाहता हूँ।

मैं मानव की प्रतिष्ठा और मर्यादा को अनाहत और अक्षुण्ण रखना चाहता हूँ, किंतु मानव कहते समय मैं मानव मानव के बीच पलने वाली उन व्याधियों को उपेक्षा से नहीं देखता, जो मानव के बीच बाधा डालती

हैं। उन बाधाओं को मैं मानव जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में देखता हूँ। उन बाधाओं पर अपने स्वार्थ पालने वालों को मैं मानव की संज्ञा नहीं देता चाहे वे मानव शरीर धारी क्यों न हों।

मनुष्य का मौलिक विवेक निरंतर नये मानवीय प्रतिमानों को विकसित करता हुआ इतिहास को मनोवांछित दिशा में अवश्य मोड़ता आया है, किंतु यह मनुष्य वास्तव में एक व्यक्ति नहीं—सारा समाज है, जिसमें सबका सहयोग है, और जिसकी समष्टि में निरंतर व्यष्टिरूप में भी वह जीवित रहकर अपनी प्रतिभा का विकास करता आया है। मनुष्य के विवेक की 'सदिच्छा' को अवश्य स्वतंत्रता मिलनी चाहिये, किन्तु उसकी उस 'स्वेच्छा' पर अवश्य प्रतिवन्ध होने चाहिये जो कि अपने स्वार्थ के लिये दूसरे की स्वतंत्रता का अपहरण करने की चेष्टा करती है।

मनुष्य समाज में रहकर निरंतर अपनी आधिकाधिक स्वाधीनता के लिये बढ़ता रहा है और परिस्थितियों को उसने अधिकाधिक अपने अनुकूल बनाने की चेष्टा में ही पीढी दर पीढी अपना जीवन बिताया है। उसके नैतिक आध्यात्मिक और राजनैतिक मानदण्ड उसके प्रकृति पर शासन करने की तत्कालीन शक्ति विशेष, कालविशेष में उसके बुद्धिस्तर तथा आर्थिक मानदंडों से निरंतर प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित होते रहे हैं और प्रभावित हो रहे हैं। वह निरंतर अपने सुख के लिये सृष्टि के रहस्यों की खोज करके प्रकृति पर जय पाता रहेगा और उसके विकास की संभावनाएँ असीम हैं प्राक्काल से मध्यकाल तक के धर्म और विश्वास प्रारम्भ में इसी विकास के चरण बने, किंतु अपनी गत्यात्मकता से बिछुड़कर वे मनुष्य की अगली पीढ़ी के लिये बोझ बन गये। फिर भी मनुष्य अपनी 'सदिच्छा' से प्रेरित होकर आगे बढ़ता रहा है और उन अविकसित परिस्थितियों के प्रतिबिंबों को पीछे छोड़ता आया है। अतीत का मूल्यांकन करते समय प्राचीन मनुष्यों की उस 'सदिच्छा' के प्रति यांत्रिक दृष्टिकोण नहीं रखना चाहिये, जिससे वे अपने युग बन्धनों और अपरिपक्व साधनों में रहते हुए भी अपने पहले की तुलना में अच्छा समाज बनाने की चेष्टा किया करते थे। यह सत्य है कि हम उन कार्य्य कारणों को जानते हैं जिनके प्रभाव में व्यक्ति विशेष या सामान्य, अमुक

युग में कार्य्य विशेष करते थे, किन्तु जो व्यक्ति उस विशेष में थे वे अपने अपने वर्ग स्वार्थों में बद्ध रहकर भी सामान्य मानव थे और उनमें सदिच्छा विद्यमान थी। वह सदिच्छा सदैव की भाँति अपनी सामाजिक परिस्थिति के द्वारा आबद्ध थी। केवल कलाकारों और उन मनुष्यों ने ही उस सदिच्छा की प्रेरणा से अपने स्वार्थ को तोड़ने की उतनी चेष्टा की, जितना कि युग करा सकता था, और व्यापक मानव के कल्याण की बात की।

यह सत्य है कि पूँजीवाद मानव को दिग्भ्रमित कर रहा है, और यह भी सत्य है कि कुछ राज्य सत्ताएं जिन व्यवहारों को काम में ला रही हैं वे समाज का और व्यक्ति का पूर्ण समन्वय अभी नहीं है। वैज्ञानिक समाजशास्त्र का आधार लेकर, अपनी पुरानी संस्कृति की सहायता से, व्यक्ति और समाज के तादात्म्य का मार्ग बनाना चाहिये और साथ ही उन राज्य सत्ताओं की जनता की पुरानी दलित अवस्थाओं का भी ध्यान रखना चाहिये, जिनमें से वे काफी अंश तक बाहर निकल चुकी हैं। जो बन्धन बाकी हैं वे उनकी देशीय सांस्कृतिक विरासत के दोष हैं, जो भी आगे चलकर अवश्य टूट जायेंगे। हमें ऐसी यूथ सभ्यता की ओर लौटाया ही नहीं जा सकता, जहाँ व्यक्ति का मूल्य नहीं है, न हम स्वतंत्रता के नाम पर ऐसी वैयक्तिकता ही चाहते हैं जो समाजपक्ष पर ध्यान देना निकृष्ट और हेय समझती हो। मैं इसे पूर्णतः मानता हूं कि मानवीय स्वाधीनता मौलिक तथा समाज-व्यक्ति मिलन से उत्पन्न प्रतिमान है अतः मानवीय नैतिकता का आधार यही है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी स्वाधीनता की चाहना करे और साथ ही दूसरों की भी समान स्वाधीनता को कामना करे। वह अपनी उन स्वाधीनताओं को मानवीय स्तर से गिरा हुआ समझे जो अन्यों की स्वाधीनता, में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से व्याघात डालती हैं।

साहित्य के प्रतिमान मूल मानवीय प्रतिमानों से भिन्न या उनके विरोधी नहीं हो सकते, किन्तु उन मूल प्रतिमानों को मैं केवल प्रकृतवाद में सीमित करके नहीं रखना चाहता, मैं तो मानव के व्यक्ति और समष्टि को समन्वित करके ही व्यक्ति का पूर्णत्व देखता हूँ और इसी से अहं जब सर्वात्म होता है उसी को मूल प्रतिमान का पर्याय मानता हूँ क्योंकि भावमूलक सत्ता भी अपने

बाह्य परिवेशों से ही बिंबित होती हैं और उनकी चेतना का यह गुणात्मक परिवर्त्तन ही निरंतर अपने को उदात्ततर बनाने के प्रयत्न में विकसित करता रहा है। साहित्य ही उस विकास के द्वारा वास्तविक मानवीय मूल्यों का उद्घाटन करता है। मैं व्यक्ति की किसी भी उस स्वतंत्रता को नहीं मानता जो शोषण को प्रश्रय देती है, यथार्थ से पलायन का पाठ सिखाती है, और जो वास्तव में अन्य की स्वाधीनता को आडम्बरकाल में बांधकर हर लेने की चेष्टा करती है। आस्था से प्रेरित और स्वेच्छा नहीं, बल्कि सदिच्छा से किया कर्म ही स्वाधीनता को आगे बढ़ा सकता है, दूसरे द्वारा आदिष्ट कर्म ही स्वाधीनता को आगे बढ़ा सकता है, दूसरे द्वारा आदिष्ट कर्म में व्यक्ति और कला का अनुभूति हीनता आ जाने से हनन होता है। व्यक्ति का विवेक समाज से निर्मित होता है, उस पर आश्रित होता है, किंतु उसकी भी अपनी एक इकाई है, वह न दूसरे में न्यस्त हो सकता है, न दूसरों से अलग होकर ही जीवित रह सकता है।

जो संगठन व्यक्ति को बाहर करके भेड़चाल चलते हैं वे ह्रास की ओर जाने वाले हैं। जो संगठन व्यक्ति का मान करते हैं वे मानव की सदिच्छा से बनते हैं। किन्तु कलाकार की सदिच्छा व्यापक क्षेत्र चाहती है, उस पर अंकुश नहीं लगाये जा सकते, परन्तु उसे निरंतर उस सीमा में निरंकुश भी नहीं छोड़ा जा सकता। जहाँ वह ऊपर कही अन्यों की स्वाधीनता का हरण करते हैं। यह सत्य है कि साहित्य के क्षेत्र में व्यक्ति स्वातंत्र्य और जनहित दो अलग अलग प्रतिमान नहीं हैं, न हो सकते हैं।

मानव की कलात्मक एवं सांस्कृतिक प्रतिष्ठा किसी काल्पनिक भविष्यत् युग में नहीं, वह अभी होती चलेगी, जैसे कि अपनी सीमाओं में चलती आई है। सीमा निरंतर बढ़ती है। हम पहले से बढ़े हैं, हमारे बाद वाले और बढ़ेंगे। परंतु सुविधापरक प्रयासों की समाप्ति के पश्चात् वह प्रारम्भ हो यह सैद्धान्तिक रूप से गलत है क्योंकि सुविधापरक प्रयास मानव जीवन में केवल बाह्य नहीं है। मनुष्य के अन्तस्थ को भी उसकी उतनी ही आवश्यकता है। वह प्रयास क्या सफल होगा, या क्या भविष्य बनायेगा जो अपने दोनों पक्षों को संतुलित और समन्वित करता हुआ नहीं बढ़ता। विदेशों की

बात और है, हमारी संस्कृति अपने प्रत्येक की सीमा में इन दोनों का समन्वय सिखाती आई है। हम किसी विदेश के लिये एक के बाद दूसरी की प्राप्ति का आश्वासन सुनकर मान सकते हैं, परन्तु अपनी विरासत एकांगिता का पाठ ही नहीं पढ़ाती और यह सोचना कि सुविधापरकता एक माध्यम न होकर एक अन्त है, इतिहास को नहीं समझना है। रोग में शैया पर विश्राम करना, स्वास्थ्य में चलते रहने का एक प्रकारांतर है, वह अन्त नहीं है, क्योंकि दोनों ही जीवन की विभिन्न परिस्थितियों में विभिन्न रूप से जिजीविषा के ही रूप हैं। इसे मानने वाला ही जीवन की गति की महानता को समझता है। जो अपनी पीढ़ी के कार्य्य को ही महान समझता है या रटी लकीर पीटता है, वह कुत्सित समाजशास्त्री है। मानव की स्वाधीनता और उसके विकास की असीम सम्भावना वस्तुतः उसकी कला में ही अपनी अभिव्यक्ति प्राप्त करती है।

इस प्रश्न के उठने पर दो बातें सामने आती हैं। पूँजीवादी साम्राज्यवादी कला पलायनवाद, प्रकृतवाद, प्रयोगवाद आदि के गर्त्त में ले जाकर साहित्य को जीवन से अलग करना चाहती है। मानववादी विश्व के महान साहित्यकारों ने जीवन को ही अपना चरम लक्ष्य बनाया है। और बहुजनहित अर्थात् जनवाद ही उसका आधार रहा है। जनवाद की अभिव्यक्ति युग विशेषों में अपनी युग सीमाओं के भीतर हुई है।

किन्तु जब से समाजशास्त्र के नियम ज्ञात हो गये हैं, कला को जीवन से अलग करके देखने वाली साम्राज्यवादी संस्कृति ज्ञान के सामूहिक उपादानों को झुँठला देने को चेतन प्रयत्न करती हुई रह रही है। हमें उसे काटना आवश्यक है। किन्तु उसके लिये हमें जनवाद को ठीक से समझना है।

जनवाद की अभिव्यक्ति बताती है कि मनुष्य का राजनीति से सदैव संबंध रहा है, है और रहेगा। किन्तु राजनीति और साहित्य एक दूसरे पर अन्योन्याश्रित होते हुए भी, दोनों की अभिव्यंजना या परिस्थिति में तथा क्षेत्र में भी भेद है। राजनीति सबको प्रभावित करती है, चाहे उससे कितनी ही अलग रहने की चेष्टा क्यों न की जाये। दैनंदिन जीवन में मनुष्य से मनुष्य के युग विशेष के स्थापित संबन्धों की अभिव्यक्ति का व्यवहार रूप में प्रच-

लित रहना ही असल में राजनीति है। इस राजनीति का जब तक साहित्य से समुचित तादात्म्य नहीं होता, तब तक मनुष्य की वास्तविक स्वाधीनता की की कामना करना समाज में केवल दर्शक बन कर रहने के समान है। किन्तु जहाँ हम राजनीति को इतना महत्व देते हैं वहाँ हमें उसकी सीमाओं पर भी ध्यान देना आवश्यक है।

पूँजीवाद राजनीति को, अपनी शोषण पद्धति और मानव स्वाधीनता के हरण की वास्तविकता को छिपाकर वैयक्तिकता का पाठ पढ़ाकर समाज से व्यक्ति को अलग करना चाहता है। दूसरी ओर जनवाद के नाम पर हमें ऐसी गलतियाँ दिखाई देती हैं जो वास्तविक जनवाद को तो दूर करती ही हैं उसके ऊपर लांछन भी लगाती हैं। हमें अन्यों की महानता को देखते हुए भी उन भूलों को रोकना आवश्यक है, कम से कम हम अपने को तो उन भूलों से दूर रख ही सकते हैं। जब मैं इस पक्ष पर अधिक ज़ोर देता हूँ तो इसीलिये कि हमें इसी मार्ग को ठीक करके चलना है। अन्य मार्ग नाश की ओर ले जाने वाले हैं, उनका तो हमें पूर्णतया विरोध करना है, अतः उधर तो विवेचन हो चुका, इधर अपना चिन्तन ठीक कर लेना आवश्यक है।

राजनीति और साहित्य में अन्तर होता है। राजनीति में यदि अति-प्राचीनकाल में कबीलों की लड़ाइयाँ थीं, तो परवर्त्तीकाल में राजाओं के युद्ध हुए। बीसवीं सदी में यह संघर्ष राष्ट्रों और दलों के मतवादों पर आया। पहले दो आदमी आपसी बाहुबल से झगड़ा तय कर लिया करते थे। बाद में समाज ने यह नियत किया कि यह तरीका ठीक नहीं था, इसलिये न्यायालय बने। व्यक्ति की सुरक्षा का भार समाज ने लिया। और व्यक्ति ने समाज को इसीलिये स्वीकार भी किया। इसी सुरक्षा के रूप में राज्य बने। राज्यों के कार्य्यों को सरकारें पूरा करती हैं। विभिन्न मतवाद के लोगों ने इसी सरकार को हस्तगत करने का प्रयत्न किया है। मार्क्स ने अपने अध्ययन के उपरांत यह देखा कि प्रायः किसी भी समाज व्यवस्था की रक्षा करने वाला राज्य होता है। राज का अर्थ है स्टेट। स्टेट ही जिस वर्ग के हाथों में हो वही शासक होता है। तभी उसने वर्गहीन समाज बनाने के लिये यह आवश्यक समझा कि पहले राजनीतिक परिवर्तन होना चाहिए। उसने कहा कि प्रकृति में अपने

आप जिस प्रकार क्रम विकास से मात्रात्मक परिवर्तन होने से एक गुणात्मक परिवर्तन होता है वही समाज पर भी देखा जाता है। मात्रात्मक परिवर्तन समाज की उत्पादन व्यवस्था के द्वारा होता है। जब गुणात्मक परिवर्तन के द्वारा कोई नयी ऐसी चीज बन जाती है जिससे उत्पादन की व्यवस्था पर नया प्रभाव पड़ता है तब पैदावार और उसके वितरण में भेद उपस्थित हो जाता है। तब युग बदलता है और उसका जीवन पर भी प्रभाव पड़ता है। मशीनें सामंतीय जीवन के अन्त की उपज हैं जब कि खेतिहर जीवन से मनुष्य आगे बढ़ गया। मशीनों ने उत्पादन की व्यवस्था बदली। अब मार्क्स ने कहा कि क्रम विकास में तो मजदूरों का आगे चलकर सब पर आधिपत्य होगा ही, किन्तु जब समाज के विकास का नियम समझ ही लिया गया है तो क्यों न इस विकास की अवधि को छोटा करके मजदूरों का अधिनायकत्व स्थापित कर लिया जाये। इसलिये उसने मजदूरों से संगठित होने को कहा। वे बौद्धिक रूप से जागरूक लोग जो जनता का भला चाहते थे, उन्होने एक पार्टी बनाई, जो जनता के स्वार्थ के लिये अपना समर्पण कर चुकी थी। इस पार्टी का काम था कि क्रम विकास में धीरे-धीरे मजदूर उठें, उन्हें शिक्षित करके जागरूक किया जाये और प्रकृति के एक और नियम—कुदान (Leap) का अनुसरण किया जाये। प्रकृति सदैव क्रम से नहीं चलती' झटकों से भी बढ़ जाती है।

आदर्श रूप में यह पार्टी बनी और इसका उद्देश्य बना कि कालांतर में जब समाज में मजदूरों का अधिनायकत्व होने के बाद समाज वर्गहीन हो जायेगा, शोषण समाप्त हो जायेगा, मनुष्य समाज एक सा हो जायेगा, उसमें ऊँच-नीच स्वार्थ बन्धन नहीं रहेंगे, तब राज्य में नियमन रखने वाली पुलिस फौज व्यर्थ हो जायेगी, पार्टी की आवश्यकता नहीं होगी और राज्य धीरे-धीरे विलुप्त हो जायेगा। समाज एक परिवार के समान महान हो जायेगा। वह समाज द्वन्द्व न रहने पर क्या आलसी नहीं होगा? मार्क्स ने कहा : नहीं। मनुष्य महत्त्वाकांक्षी है। तब वह सृष्टि के रहस्यों की ओर उन्मुख होगा और ज्ञान-क्षेत्र में निर्द्वन्द्व बढ़ने के लिये स्वतन्त्र होगा।

इस राजनीति ने साहित्य को प्रभावित किया। मैं कह चुका हूँ कि

साहित्य और राजनीति में भेद है। राजनीति में व्यक्ति ही तो पार्टी के भीतर होते हैं और सब व्यक्तियों की समझ एक सी नहीं होती। महत्वाकांक्षा अपना रंग लाती है। कभी-कभी एक विचारधारा गलत होने पर भी राजनीति में इसलिये स्वीकार करली जाती है कि उसके पीछे पार्टी का बहुमत होता है। प्रायः पार्टी के नेताओं में एक ही शास्त्र की व्याख्या में मत भेद हो जाता है रूसी राजनीति में ऐसे उदाहरण एक नहीं अनेक हैं, जबकि नेता कभी एक ओर देख गये हैं, कभी दूसरी ओर।[१] भारत में भी ऐसी गलतियाँ निरंतर होती रही हैं। यह राजनीति की बातें नित्य के व्यवहार की बातें हैं। साहित्य में एक अंग इसी के समान होता है। उसे पत्रकारिता कहते हैं। अखबारों में भी ऐसा ही होता है। किन्तु जो साहित्य स्थायी है वह इस प्रकार का परिवर्त्तनशील नहीं हो सकता।

प्रत्येक युग के शासकों ने यह प्रयत्न किया है कि जनकल्याण के सिद्धांत का आडम्बर बना कर लेखकों को दबाया जाए, ताकि वे तत्कालीन शासक वर्ग की प्रशंसा करते रहें जिससे जनता में असंतोष पैदा नहीं हो। वैसा करना वामपक्षियों के लिए भी कठिन नहीं है। वास्तव में जब किसी पार्टी

1. The mistake Bukharin makes is that he does not understand and does not accept this simple thing, he forgets the social groups in the rural districts, he loses sight of the kulaks and the poor peasants, and all he sees is one uniform mass of middle peasants. This is undoubtedly a deviation to the Right on the port of Bukharin, in contradistinction to the 'Left', Trotskyite, deviation, which sees no other socal groups in the rural districts except the poor peasants and the kulaks, and which loses sight of the middle peasants.

(Problems of Lenisnism J. Stalin. pp. 261. Moscow 1943.)

के नेता ही साहित्य का नियमन करते हैं और वह भी जनकल्याण के दावेदार बनकर, तब जनकल्याण तो गौण हो जाता है, तत्कालीन पार्टी दस्तावेज़ को व्यवहारिक रूप में सहायता मिले, यही वे साहित्य से अपेक्षा करते हैं और वही वस्तु छपती भी हैं जो उन पार्टी सदस्यों की रुचि को तृप्त कर देती है। इस प्रकार साहित्य अपनी स्वतंत्रता खो बैठता है। पूँजीवादी सरकारें भी इसी प्रकार दबाती हैं। वे उस विचारधारा को दबाती हैं जो उनकी जड़ें काटती हैं। साम्यवादी सरकारें अपना एक अखण्ड मानदण्ड बना लेती हैं, जिन पर सब कुछ को नापा जाता है। जो उसके अनुकूल हो, पार्टी के क्रिया-कलाप के अनुकूल हो, वही रहने दिया जाता है। निस्संदेह अगर अकबर-कालीन मुल्लाओं को रामचरित मानस का अध्ययन करके उसे पास नापास करने का अधिकार होता, या कबीर कालीन शासकों को कबीर सादित्य को पास नापास करने का अधिकार होता तो अवश्य संस्कृति इन लेखकों की रच-नाओं से वंचित रह जाती। लेखक के वर्ग स्वार्थ पोषण का विरोध, उसकी दुरुहता का विरोध उसके घृणा प्रचार का विरोध और बात है, उसे किसी पार्टी के प्रचार को जीवन के यथार्थ पर लादने का जोर देना और बात है। इन दोनों का भेद स्पष्ट याद रखना चाहिए। हम यह नहीं कहते कि जाति, साम्राज्य, आदि को रखने वाला साहित्य जो घृणा और शोषण को सहायता दे, वह नहीं रोका जाये, लेकिन पार्टी के सदस्यों की रुचि विशेष यदि अपने को ही जनता का दावेदार बनाले तो अवश्य असंगति, अनर्गलता, टुटपूँजिया मनोवृत्ति और बौद्धिक दासता साहित्य पर हावी हो जायेगी, जहाँ लेखकों का एकमात्र उद्देश्य होगा कि वे स्वयं नेता न रह कर राजनीतिज्ञों के भाषणों को मुँह बाकर सुना करें और उन्हें लिपिबद्ध करके इनाम पाया करें।

यांत्रिक मार्क्सवादी इसका एक लाजवाब उत्तर देते हैं। वे कहते हैं कि पार्टी की बुद्धि से जो अपने को बड़ा समझता है वह व्यक्तिवादी है, क्योंकि एक व्यक्ति कभी बीस आदमियों से अच्छा नहीं सोच सकता। अब यदि किसी को पार्टी चिन्तन से असन्तोष हो तो उसे पार्टी में सदस्य बनना चाहिये और अपने असन्तोष को प्रगट करना चाहिये। उसे यदि बहुमत स्वीकार कर ले तो ठीक, अन्यथा पार्टी को सिर झुकाना चाहिये, क्योंकि गलत हो या ठीक,

बहुमत ही एक व्यक्ति के मत से अधिक श्रेयस्कर होता है, ठीक होता है। यदि आप पार्टी के बाहर जाकर पार्टी का विरोध करते हैं तो आप जनता के शत्रु हैं, क्योंकि पार्टी में व्यक्तिस्वार्थ नहीं है, जनता के कल्याण की भावना है। यानी जनता और पाटी में भेद नहीं है। पार्टी जनता से शक्ति लेती है, और जनता के संघर्षों में तप तप कर सोना बनती है। उसके पास मार्क्सवाद का अस्त्र है, ऐसा कि जो आज तक किसी के पास नहीं था। आज तक के सिद्धाँत और मतवाद द्वंद्वात्मक भौतिकवादी सिद्धाँत के अनुकूल न थे और मार्क्सवाद से बढ़कर कुछ है ही नहीं। अतः जनता, पार्टी, मार्क्सवाद, बहुमत यही टीक हैं, बाकी वर्गीय जीवन के संस्कार, घृणा, व्यक्तिवाद, शोषण परक आदि चिन्तन हैं।

व्यवहारिक रूप में अनेकों बार यह बहुमत का न्याय गलत साबित हो चुका है। मार्क्सवाद को ही यदि ऐसा मान भी लिया जाये कि इसे तो बिल्कुल ही ठीक माना जायेगा, इससे आगे अब विचार की उन्नति होगी ही नहीं, यहाँ तक कि विज्ञान की नयी-नयी खोजों को भी उसी को पुष्ट करना होगा, कल को यदि द्वन्द्वात्मक विकास की जगह प्रकृति में त्रैधात्मिक विकास भी प्रमाणित हो जाये, तो भी उसे मार्क्स का विरोधी जानकर त्याग देना होगा, तब भी यह सत्य है कि मार्क्स को ही समझने वाले दिग्गजों में ही कभी दक्षिण और कभी वामपंथी गलतियाँ हो जाती हैं और वह भी बहुमत ही करता है। वहाँ भीतर पार्टी के रह कर बफादारी करनी पड़ती है, विरोध तो धीरे-धीरे ही हो सकता है, और पार्टी के बाहर विरोध करना वर्गस्वार्थ का पोषण करना है। सारांश यह कि पार्टी के बुद्धिमान ही अकल की कसौटी हैं, क्योंकि उनके संग दस बीस हैं, बाकी सब मूर्ख हैं। हो सकता है मेरी बात से कुछ लोग चौंके। मैं ऊपर बुखारिन के विषय में लिख चुका हूँ। किन्तु बेरिया जैसे अग्नि परीक्षा में तप्त वीर का गद्दार निकलना, मेलनकोव का अपनी गलती मानकर कहना कि जो किया गलत किया, तथा भारतीव कम्युनिस्ट पार्टी के नेताओं का आंध्र में सबको चुनौती देकर अभी हाल में जनता की अपने प्रति रुचि न जान कर बुरी तरह हार कर झेंप मिटाने के लिये बेवकूफी की बातें करना, प्रमाणित करते हैं कि मार्क्सवाद को समझने

वालों में भी भूलें हो जाया करती हैं। मेरा मतलब मज़ाक उड़ाने का नहीं है। मेरा कहना इतना ही है कि मार्क्सवाद एक दर्शन है और पार्टी का वर्त्तमान ढाँचा उन्नीसवीं सदी की रूसी परिस्थितियों के अनुकूल बना था। वही सब जगह लागू हुआ है। रूस एक सामंतीय तथा बर्बर किस्म का देश था, जहां जार जूते के बल पर राज करता था। वहां डंडे का पैटर्न ही चालू था। वहाँ वही बना और वही लागू हुआं। खैर। गलतियां किससे नहीं होतीं। इन्हें क्षम्य भी कहा जाये किन्तु निम्नलिखित बातें निश्चय हीं स्मरणीय हैं—

१] अपनी कैसी भी परिस्थितियों में कम्युनिष्ट पार्टी ने रूस की उन्नति की है, अवश्य उस पर अपनी सांस्कृतिक परंपरा का प्रभाव रहा है—

२] उन्नति की है किंतु उसके अपने अभाव भी हैं, वह पूर्ण नहीं है कि उसमें सुधार की गुंजायश न हो।

इन बातों के स्पष्ट करने के बाद सवाल उठता है कि क्या मार्क्स से पहले जो मानववाद था, आज मार्क्स की वैज्ञानिक व्याख्या के सहारे से वही विकसित नहीं हो रहा है? आज भी मानववाद अन्त है, साध्य है, या उसका साधन मार्क्सवाद ही साध्य बन गया है कि मानववाद गौण ही समझा जाने लगा?

मैं किसी भी रूप में किसी भी सत्य को पूर्ण नहीं मानता, ये सब सत्य अपूर्ण हैं, सापेक्ष हैं। यदि ये विचार अपना द्वन्द्वात्मक विकास नहीं रखते कि मात्रात्मक परिवर्त्तन से इनमें आगे गुणात्मक परिवर्त्तन न होंगे, कि यह कालविशेष के साधन हैं, साध्य नहीं, कि साध्य निरन्तर आगे रहेगा और युग विशेष के साधन अपना विकास करते रहेंगे, तो मैं इनको हेय समझता हूँ। किसी भी युग के मनुष्य ने अपने को पूर्ण न समझा हो, अपने विचारों को सर्व श्रेष्ठ न समझा हो, ऐसा कोई कह सकता है?

केवल कलाकारों ने ही अपने युग की सीमाओं को तोड़ा है। प्रायः दार्शनिक भी असफल कवि रहे हैं। उन्होंने जब भावपक्ष को विचार पक्ष से संतुलित न करने की असमर्थता पायी तब वे विचार क्षेत्र में ही उतर गये, ऐसा ही मार्क्स भी था। मैं यहां यह नहीं कहता कि राजनीतिज्ञ जो कि व्यावहारिक कार्य्यक्षेत्र का प्राणी है, उसकी भाव और विचार क्षेत्र के प्राणी

कवि के सामने जगह ही नहीं है, वरन् यह कहता हूँ कि जीवन और संस्कृति के असली दावेदार कवि और कलाकार, दार्शनिक और वैज्ञानिक हैं, राजनीतिज्ञ का अपना स्थान है जैसे मोटरों की भीड़ वाले चौराहे पर हाथ दिखाने वाले चौराहे के सिपाही का अपना महत्त्व है।

युग की सीमा तोड़ने के पीछे क्या रहा है ? विचार ? या भाव ? भाव विचार से मिश्रित होता है, वह अलग नहीं होता। अतः भाव और विचार अन्योन्याश्रित हैं। वही मनुष्य और मनुष्य को जोड़ता है। सीमा तोड़ता है वह विचार मिश्रित भाव क्योंकि समाज की व्यवस्था उसे प्रेरणा देती है। वह युग के मान्य सत्यों के आगे बढ़कर मानव का कल्याण देखता रहा है।

अब तक के दर्शन भौतिक और अभौतिक की व्याख्या मात्र थे। मार्क्सवाद ने दर्शन को जीवन के व्यवहार में बदला। परन्तु मार्क्सवाद और पार्टियों का संगठन एक वस्तु नहीं हैं। मार्क्सवाद एक दर्शन है, और उसको व्यवहार में लाने वाली पार्टी साधन का औज़ार है, उसमें बुराइयाँ हो सकती हैं। वे बदली भी जा सकती हैं। उन्हें कौन बदले ? जनता। जनता को पार्टी शिक्षित करने का काम करती है, तो शिक्षक को शिक्षित कैसे बदले ? शिक्षित ही शिक्षक को बदलता है क्योंकि शिक्षक की सारी शक्ति शिक्षित में ही है। शिक्षित ही उद्देश्य का अन्त है, शिक्षक एक व्यवहार का साधनमात्र है।

ऐसी व्यवस्था में कलाकार क्या करे ?

क्या वह किसी राजनीतिक दल के प्रति उत्तरदायी है ? नहीं। वह जनता के प्रति उत्तरदायी है। कहा जाता है कि पार्टी और जनता के बीच रेखा खींचना व्यक्तिवाद है। परन्तु यह कुछ पार्टी के सदस्यों की अपने को सर्वोपरि रखने की चाल है, जिसकी पृष्ठभूमि में शासन करने की भूख और व्यक्ति के भीतर पलने वाली महत्त्वाकांक्षा है, जो वैसी ही है जैसी कि इतिहास में दलों के भीतर रहती आई है क्योंकि यह दल जनता का नाम धारण करके अपने को जनता पर हावी करने की चेष्टा करता रहा है। पार्टी से गलती हो सकती है, कुछ सदस्य महत्त्वाकांक्षी निकल जा सकते हैं। उनके व्यक्तिगत स्वार्थ भी छिपे छिपे पल सकते हैं। साहित्य उस दल के प्रति नहीं, जनता के प्रति उत्तरदायित्व रखता है और यही वास्तव में बहुजन हित है, जीवन

का यथार्थ है, जो कि साहित्य की मूलशक्ति होता है। जो दलीय प्रतिबंधों में न पड़कर जनजीवन के प्रति ईमानदार होते हैं, वे ही वास्तविक साहित्य का सृजन करते हैं। जो लेखक अपने आदर्श को दल के यथार्थ से जोड़कर अपने पात्रों को अपनी मनचाही रीति से रँगता है, वह वास्तव में निकृष्ट तथा लल्लोचप्पो की कला को जन्म देता है, और जो जीवन के यथार्थ में रहते पात्रों को अपनी कल्पना से नहीं रँगता, वरन् अपने आदर्श को यथार्थ के सत्य के साथ प्रस्तुत करता है, वही वास्तव में उच्चकोटि का कलाकार होता है जो कि स्थायी साहित्य का सृजन करता है।

मैक्सिम गोर्की के समय में प्रश्न आया था कि दैनंदिन जीवन की समस्याओं के प्रति क्या कलाकार को उदासीन रहना चाहिये। जब कलाकार शब्दों का सबसे अच्छा संयोजक होता है, उस समय क्या उसे भावप्रधान साहित्य के सृजन के लिये चुप हो रहना चाहिये? क्या युग के प्रति उसका यही दायित्व है? क्या उसे प्रत्येक विशेष घटना पर नहीं लिखना चाहिए?

उस समय राजनीतिक आंदोलन का बड़ा ज़ोर था। क्रान्ति हुई ही थी। आवेश था कि विजय हुई थी। एक ओर अतिवादी कह रहे थे कि नाट्यगृह बुर्जुआवर्ग का बनाया हुआ है, उसे नष्ट कर देना चाहिए, उधर लेनिन उन्हें रोक रहा था कि: नहीं, इमारत तो पुराने समाज की विरासत है। उसमें नये नाटक खेलो और उसका प्रयोग करो।

गोर्की ने स्थायी साहित्य के मूल्य पर ज़ोर दिया। और उधर मायकोवस्की टेलीफोन पर संपादकों से पूछा करता था, कि किस विषय पर कविता लिखूं। उसने अपने को तनमन से क्रान्ति पर न्यौछावर कर दिया था उसने पार्टी के सत्य को जन जीवन के यथार्थ पर लादा था और वह इसी कारण पार्टी में त्रात्स्कीवादियों की विरोध वाणी सुनकर आत्महत्या कर बैठा क्योंकि उसके विश्वास की जड़ें जनता में नहीं थीं, राजनीतिज्ञों पर आश्रित थीं। गोर्की ऊँचे दर्जे का व्यक्ति था। उसने अन्त में तरीका निकाला। रिपोर्ताज और फ़ीचर का प्रचलन किया, जो भावमय पत्रकारिता के उदाहरण थे। उसने पत्रकारिता और लेखन कला को अलग अलग रखा। जैसे पुराने रीतिकाल में राजाओं के हुक्म पर कवि लोग कविताएं बनाया करते थे, वैसी प्रवृत्ति

को प्राणहीन समझ कर कौन महान कलाकार नहीं छोड़ देता ? आंदोलन प्रचारक और राजनीतिक रूप मात्र के लिये पत्रकारिता श्रेष्ठ है किन्तु अप जीवन दर्शन को प्रगट करने के लिये जो कला और काव्य हैं वे किसी के पर नहीं चलते, वे तो कलाकार की उस आत्मानुभूति से जन्म लेते हैं कलाकार समाज के तादात्म्य में अपने भीतर आत्मसात् कर लेता है। घटना उसे यकसाँ प्रभावित करे यह आवश्यक नहीं है। इस प्रकार लेख और इतिहासज्ञ का अन्तर भी स्पष्ट हो जाता है। युग परक साहित्य का अ दैनंदिन जीवन का रोज़नामचा बनाना नहीं है। जिस प्रकार हिंदी में टु पूँजिया निम्नमध्य वर्गीय हीनता के संस्कार लेकर, जनता के नाम पर अप छिछली रचनाएं नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, आदि ने प्रस्तुत की है जिस कुत्सा का निरंजन और अगिया बैताल के छद्मनामों से रामविला शर्मा ने कविता में प्रचार किया है, वह इसी पतित मनोवृत्ति का परिचाय है जो युग परकता का अर्थ राजनीतिज्ञों की गुलामी से लगाती है।

सवाल उठता है कि लेखक यदि जनजीवन के यथार्थ को लेकर चलत है तो क्या उसकी रचना कुछ दिन बाद राजनीति बदल जाने पर व्यर्थ जायेगी ? काश्मीर समस्या पर शेख अब्दुला के समय में नाटक लिखने वा कवियों को मैंने देखा है जिन्होंने अपने नाटकों को कुछ समय बाद इसलि फाड़ दिया क्योंकि तब तक पार्टी की नीति बदल चुकी थी। यह सब क्य है ? जिन लोगों ने अपनी इस जघन्य मूर्खता पर लज्जित होना भी छोड़ दिय है, या जिनकी सत्ता ही इस अनर्गलता के छत्र के नीचे अपनी अहम्मन्यत बनाये हुए है, उनको किसी भी प्रकार ठीक नहीं किया जा सकता। वे संस्कृ के दृष्टिकोण से मृत हैं और उनका काम केवल सड़ सड़ कर अपने शवों कीड़ों को बसाकर दुर्गन्ध भरना ही है।

युग बीत गये, प्राचीन साहित्य जीवित है। क्यों ? उसका प्राण कहाँ है जनजीवन के यथार्थ चित्रण में। किसी भी राजनीतिक दल को जनजीव का सम्मान नहीं दिया जा सकता। कैसी भी वीरपूजा का अंधकार जनजीव की ज्ञानकिरण के आगे नहीं टिक सकता। यह वीरपूजा की भावना रूस से आई है। जब तक लेनिन के शव को मसाले भर कर रखा गया हम समझे

थे यह उस वीर का सम्मान है जिसने नयी व्यवस्था कायम की। परन्तु यह शायद वहाँ का फ़ैशन है। कुछ ही दिनों में मिश्र के फ़राऊनों के शवों की भाँति वहाँ एक पाँति खड़ी करदी जाने की संभावना है। अब स्तालिन भी मसाले भरे वहीं धरे हैं। स्तालिन वीर था, ठीक है, किन्तु यह आदिम जातियों की सी प्राचीन सम्मान करने की रीति क्या यह बताती है कि वैज्ञानिक भौतिक वाद के आधुनिक ज्ञान ने कुछ मूलभूत तरक्की की है? क्या वहाँ का जनसमाज अभी तक इतना दकियानूस है कि उसे अभी दुहाई देने को शवों के ढेर लगाने होंगे? इसी स्तालिन का रूस में इतना लोहा था 'सोवियत नारी' नामक पत्र के मुखपृष्ठ पर किसी नारी का नहीं उसीका चित्र छपा था। सोवियत भूमि के विभिन्न देशों के विभिन्न वस्त्रों वाले तरुण तरुणी ऐसे खड़े किये जाते थे कि दूर से ऐसा लगे जैसे स्तालिन का चित्र बन गया हो। यह दिमाग़ी गुलामी रूस की अपनी ज़ारशाही परम्परा की विरासत थी, भारत ने यद्यपि राजा को ईश्वर का अंश माना, किंतु इतनी निर्बलता कभी नहीं दिखाई, यहाँ तक कि महात्मागाँधी ने तो पहले ही अपने शरीर की मरने के बाद नुमायश को रोक दिया था, क्योंकि वे अपनी मिट्टी को व्यर्थ समझते थे। मैं यह बातें इसलिये कहता हूँ, कि समाज में स्वतन्त्रता का रूप क्या होना चाहिये? क्या लेखक की स्वतन्त्रता ऐसे स्थान पर कुंठित होगी या नहीं होगी?

हमें उस समाज का निर्माण करना है जो अंततोगत्वा वर्गहीन हो, परन्तु उस मंज़िल के पहुँचने के पहले जनता के कल्याण के छद्म में वीर पूजा न हो, कोई एक दल विशेष सबको अपने आधिनायकत्व से कुचल न दे, और कलाकार को राजनीतिज्ञों का दास या पिछलग्गू होकर नहीं रहना पड़े। मैं स्पष्ट करना चाहता हूँ कि मेरी व्यक्तिगत तौर पर स्तालिन के प्रति बड़ी सद्भावना है, वह वीर था, चतुर था, सोवियत महान देश है, उसने नयी व्यवस्था का सूत्रपात किया है। वह शान्तिप्रिय महादेश नयी संस्कृति को जन्म दे रहा है, उसने पुराने शोषण को मिटाया है, किन्तु जो मुझे उस व्यवस्था में अभाव लगते हैं, वह मैं स्पष्ट कर देता हूँ। वे अभाव रूस की

अपनी सांस्कृतिक परम्परा के अवशेष हैं, जिन्हें और समझदार हो जाने पर वहाँ की जनता धो पीट कर साफ़ करके ठीक कर डालेगी। यह तो आवश्यक नहीं है कि जनवाद के नाम पर हम जब वर्गहीन समाज की कल्पना करें तो रूस का ही पैटर्न लें? क्या रूस के अभावों की ओर इंगित करके, उनसे बचकर, जनवादी व्यवस्था के स्थापन में, उसकी अच्छी बातें लेकर बढ़ना प्रतिक्रियावाद है? स्वयं चीन ने अपनी व्यवस्था के अनुकूल परिवर्त्तन करने की चेष्टा की है।

वास्तव में जहाँ कोई बात जनता में उतर जाती है, वहाँ का शासकवर्ग जनता के वरगलाने से नहीं डरता उसे जनता पर विश्वास होता है। जब कोई नेता जनता का पूर्ण सहयोग पाता है, तब वह यह नहीं कहता कि शासक मुझे मारेगा, आन्दोलन छिन्न कर डालेगा अतः जनता पर पूर्ण विश्वास न करके उस पर बंधन लगाने ही चाहिये। ज़मीदार खूब धन व्यय करते थे, ब्रिटिश सरकार खूब मारती थी, पर गान्धी का आन्दोलन उठता था और बढ़ता ही जाता था। थैलियाँ खुल जाती थीं परन्तु चुनाव में जीतता गाँधी ही था। कारण? जनता का वह चुना हुआ नेता था।

लेकिन जहाँ जनता नेता को चुनती नहीं, नेता का जनता से परिचय कराया जाता है कि यह तुम्हारा नेता है, ऐसे राजनीतिक दल का यदि जनता पर विश्वास न हो तो आश्चर्य्य ही क्या? जनजीवन के यथार्थ चित्रण वाले साहित्य पर कौन सा दल नेतृत्व करके परीक्षक बन सकता है, साहित्यकार तो इसे समझ भी नहीं सकता।

जनता ही साहित्य को कसौटी है। जो साहित्य शिक्षित जनता के लिये हानिकारक होता है, जनता उसे स्वयं ही नहीं अपनाती। यदि जनता पर विश्वास नहीं है, तो संसार की किसी भी शक्ति पर विश्वास नहीं किया जा सकता, क्योंकि यह मानववाद, कल्याण, संस्कृति आखिर और किस नींव पर जाकर टिकते हैं?

साहित्य पैम्फ्लेटों की भाँति परिवर्त्तित परिस्थिति में व्यर्थ नहीं हो जाता। मायकोवस्की की जो कविताएं इश्तिहारों के नीचे लिखी गईं थीं, वे उतनी अच्छी नहीं हैं, जितनी अन्य रचनाएं। काव्य या स्थायी मूल्य का साहित्य

वह नहीं होता जो युग को छोड़ देता है, परन्तु वह वह भी नहीं होता जिसमें युगपरक वस्तु के प्रति लेखक की सहानुभूति जाग्रत नहीं होती।

हावर्डफ़ास्ट ने इतिहास के कथानक लेकर मनुष्य की अनवरत होती स्वतंत्रता की लड़ाई दिखाने वाले उपन्यास लिखे है। दासों का नेता स्पार्टकिस जिस गौरव की कहानी को छोड़ जाता है वह शताब्दियों तक अखण्ड सत्य को प्रदर्शित करने वाली है। उसके 'ग्लोरियस ब्रदर्स' की वीरता स्थायी मूल्य की रचना है। उसका 'टॉमपेन' क्या कम है? 'फ्रीडमरोड' के हब्शियों की गाथा क्या सामयिक है? यह नये उदाहरण इसीलिये दिये गये हैं कि गोर्की की 'मदर' के बारे में लिखना अब पुरानी बात पड़ गई है। रूस के 'स्टील एण्ड स्लैग', 'पोर्ट आर्थर' जैसे प्रसिद्ध उपन्यासों में जो एकरसता, ऊपरी बनाव चुनाव के वर्णन हैं, वे क्या हावर्डफ़ास्ट के सामने ठहर सकते हैं? क्या सैकड़ों पृष्ठों का 'पोस्टआर्थर' उपन्यास तात्सल्य के 'वॉर एण्ड पीस' के सामने ठहर सकता है? नहीं। क्यों?

क्योंकि नवीन रूसी साहित्य के पात्र पार्टी के सत्य को जन जीवन के यथार्थ सत्य पर लादी के समान धर कर चलते है, वे शिक्षक बनते हैं, वे जीवन की अनुभूतियों के वैविध्य के स्थान पर ध्येय परकता पर जुटे रहते हैं, जब कि हावर्डफ़ास्ट के उपन्यास में व्यक्ति मिलता है, जिसकी भावसत्ता के माध्यम से समाज के ताने बाने के रूप में गुँथे हुए वैविध्य प्रगट होते हैं। वह शिक्षक नहीं बनता, किन्तु उसकी रचना के भीतर से जो गहरी शिक्षा उभर आती है वह अन्यत्र दुर्लभ ही है।

ऐसा क्यों होता है? क्योंकि फास्ट ने भाव को ही साहित्य के मूल में पकड़ा है। समाज व्यवस्था में तो व्यक्ति होता ही है, और फॉस्ट उस व्यवस्था के प्रति जागरूक वैज्ञानिक समाजशास्त्री दृष्टिकोण रखता है; किन्तु उसका संबल व्यक्ति का वास्तविक चित्रण है, वैसा जैसा कि उसके पात्र का युग विशेष में होना चाहिये, वैसा कल्पित नहीं, जैसा कि अपने आदर्श को प्रचारित करने के निकृष्ट कोटि के कलाकार यथार्थ पर लागू कर देते हैं।

कभी-कभी सूचना आती है कि रूस में शराब ज़्यादा पी जाती है, कहीं कोई रिश्वत के विरुद्ध आन्दोलन होता है, कहीं भूलें होती है, कही सिगरेटें

अधिक पी जाती हैं, कहीं मकानों की तकलीफ़ है। यह सब साहित्य में क्यों नहीं मिलता? क्या स्तालिनग्रेद के वीर युद्ध संसार की रक्षा करने वाली जनता केवल एकरस साहित्य के पात्रों का सृजन करती है? क्या आदर्श ही साहित्य में उपस्थित किया जाना चाहिये? उस आदर्श का प्रभाव ही क्या है, यदि जीवन के वैविध्य, मनुष्य के उतार चढ़ाव वहाँ प्रस्तुत नहीं किये जाते।

यहाँ में फिर कहूँ कि यह ग़लती एप्रोच में होती है। जहाँ व्यक्ति को समाज का प्रतिनिधि बनाकर लिया जाता है, वहाँ टाइप का प्रतिनिधित्व होता है, और वह केवल इस सिलसिले कि साहित्य वैचिव्यवाद के फेर में नहीं पड़ जाये। किन्तु यदि उस टाइप की शक्ति और निर्बलताओं को मानवीय धरातल के व्यक्ति पक्ष से हटाकर उस वर्ग का निर्जीव प्रतिनिधि बना दिया जाता है, अर्थात् यथार्थ पर आदर्श लागू कर दिया जाता है, वहां वह व्यक्ति सच्चा प्रतिनिधि नहीं रहता। साहित्य में व्यक्ति आना चाहिये, अपनी पूर्ण सदिच्छा के साथ वर्णित होना चाहिये। यदि उसकी सदिच्छा पर व्यवस्था के बंधन हैं तब ही उनका चित्रण प्रभावोत्पादक होता है। साहित्य केवल समाज व्यवस्था में रहते व्यक्ति की बाह्य परिस्थिति का चित्रण नहीं है, वह उसके अन्तस्थ का भी वर्णन है।

व्यक्ति तो समाज का अङ्ग है ही। आप उसके समाज में से उसे अलग करके देख ही नहीं सकते। वही एक मनुष्य है, जो विभिन्न परिस्थितियों में पड़कर, समान भाव भूमि होने पर भी विभिन्न रूप से रहता है। उसके विचार उसके भावों की समानभूमि पर ही विभिन्न रूप से प्रभावित करते रहते हैं। उस व्यक्ति का समाज में उसके बाह्य और अन्तस्थ जीवन में सांगोपांग चित्रण ही साहित्य का लक्ष्य है। किन्तु यदि उसी व्यक्ति को आप एक वर्ग का प्रतिनिधि समझलें और उसके भावपक्ष को छोड़दें तो वह निर्जीव सा लगेगा। आप बंगाल के अकाल के नाजचोर मुनाफ़ाखोर व्यापारी को राक्षस कहकर चित्रित करें तो वह असर करने वाली बात नहीं होगी आपकी बात तब ही असर कर सकती है जब आपके साहित्य में उस मनुष्य का वास्तविक रूप उतर कर आये जिसकी मनुष्यता को उसका स्वार्थ आधार बना चुका है और जिसके कारण जनसमाज तिल-तिल कर मरता है। इसी सत्य को जानने

के कारण प्राचीन महाकवियों की लेखनी से जब बुरे पात्रों का चित्रण हुआ है तब उनके मानवीय पक्ष को कहीं नहीं भुलाया गया, किन्तु उनके कामों के द्वारा एक गहरी घृणा हमारे हृदय पर छाप छोड़ जाती है। रावण की मानवीयता, सुलोचना की आर्त्त वेदना, मंदोदरी का दुख, किस पर प्रभाव नहीं छोड़ते। मिल्टन के पैरेडाइज़ लॉस्ट का शैतान अपनी वीभत्सा से किसे नहीं प्रभावित करता? महत्त्वाकांक्षा के लिये अपनी आत्मा को शैतान के हाथ बेच देने वाला गेटे का फ़ॉस्ट क्या अन्ततोगत्वा प्रेम की महती विजय को नहीं दिखाता?

यह एप्रोच अर्थात् दृष्टिकोण का भेद साहित्य सर्जन के मूल में रहता है। यदि हिटलर की वीरता को गाने वाला व्यक्ति उस बर्बरता को नहीं दिखाता जो उसने फैलाई थी तो क्या वह यथार्थ चित्रण करता है? भले ही कवि हिटलर की वीरता के गाने गाये किन्तु यदि वह उस वर्णन में यह सत्य यों कहने की बजाय कि हे वीर तू ने रूस में बच्चों की हत्या करके स्त्रियों को टैंकों से कुचला और तू ने मज़दूरों किसानों के राज्य को उखाड़ फेंकने में छलबल से युद्ध किया, किन्तु तू सामूहिक जनशक्ति के सामने विनष्ट हो गया, यों कहे कि हे वीर तू ने रूस में वज्र-गर्जन किया, शत्रु को कुचला, तू त्रिभुवन विजय करने चला किन्तु तेरे भाग्य ने तेरा साथ न दिया।' तो वह झूँठ हो जायेगा। सत्य ही अच्छे बुरे की पहचान है। यथार्थ का चित्रण ही सत्य की पहचान है।

जब कालिदास ने रघुवंश में कहा है कि हे रघु तेरे खड्ग ने शत्रु स्त्रियों के बालों की माँग को उनके पतियों के लहू से रँग दिया है तब क्या वीभत्सा नहीं उत्पन्न होती? हो सकता है एक समय इससे वीरभाव जाग्रत होता हो, किन्तु जैसा कि हम अन्यत्र इस पर प्रकाश डाल चुके हैं कि भाव युगाधीन होता है, अब वह प्रभाव नहीं पड़ता।

इसी सम्बन्ध में यह कहना भी आवश्यक है कि मार्क्सवाद समाजव्यवस्था का दर्शन और उसका विकास है वह स्वयं जीवन का वैविध्य नहीं है।

साहित्य का उद्देश्य मार्क्सवाद की व्याख्या करना नहीं है। साहित्य का उद्देश्य जीवन का चित्रण करना है। मार्क्सवाद लेखक का अपना आदर्श

हो सकता है, किन्तु वह जीवन का यथार्थ चित्रण नहीं है। राजतीतिक दल नियम बनाता है, कलाकार उस अमुक पंच-वर्षीय योजना का प्रचारकमात्र नहीं है। वह पंच वर्षीय योजना के सरकारी पक्ष का व्याख्याता नहीं है, वह तो जन-जीवन में उसकी यथार्थ प्रतिक्रिया, उस प्रक्रिया से होने वाले व्यक्ति पर पड़ते भीतरी-बाहरी प्रभावों से उत्पन्न अनुभूतियों का चित्रण करने वाला है।

मार्क्सवाद की समाजगत व्याख्या से मानवजीवन की बहुत सी पहेलियों सी दिखाई देने वाली बातें लेखक के सामने स्पष्ट हो जाती हैं, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि यह दर्शन ही जीवन बनने की सामर्थ्य रखता है। जीवन किसी भी दर्शन से महान् है। मार्क्सवाद की व्याख्या नहीं, साहित्य जीवन की वास्तविक व्याख्या है। जो इसे स्वीकार नहीं करता वही कुत्सित समाज शास्त्री है।

साहित्य का नायक मनुष्य है। हाँ मनुष्य की व्याख्या ऐसी नहीं है कि वह समाज से परे हो। मनुष्य तो वह तभी है जब समाज का प्राणी है। समाज अपने सांगोपांग रूप में मनुष्य के सामने उपस्थित है और दोनों का अभिन्न सम्बन्ध है। साहित्य इस संबन्ध की सूक्ष्मतम अनुभूतियों को भी प्रगट कर देता है। वह तभी प्रभावित करता है जब मनुष्य को उसके सारे आकारों (Dimensious) में रखकर देखता है। समय तत्त्व की प्रधानता को जो काटना चाहता है, वह साहित्य का न सृजन करता है, न उसकी कला ही श्रेष्ठ होती है, क्योंकि कला तो तभी श्रेष्ठ होती है जब वस्तु सप्राण होती है जीवन का यह वैविध्य कितना असीम और महान है, उसे उसी के प्रति जागरूक रहकर समझा जा सकता है। किसी मतवाद की व्याख्या करते रहने में वह प्राप्त नहीं हो जाता है। मतवाद लेखक का आदर्श है, जब वह समाज यथार्थ से अपना पूर्ण तादात्म्य कर चुकता है, तब तो सोने में सुहागा होता ही है, किन्तु सबसे बड़ा सत्य साहित्य में यथार्थ के सत्य का चित्रण होता है।

— ३ —

वर्त्तमान हिन्दी काव्य आज अनेक उलझनों में फँसा दिखाई दे रहा है। आलोचकों की विचित्र मनोवृत्ति हो रही है। जो अध्यापक वर्ग के आलोचक हैं उन्हें शास्त्रों का ज्वर चढ़ा हुआ है। वे केवल वक्रोक्ति ध्वनि अलंकार देखा करते हैं। काव्य को वे जीवन की परिस्थितियों से अलग करके देखते हैं।

प्रगतिशील आलोचकों का दल प्रायः एक गुट बन गया है जो नयी प्रतिभाओं को तो देखता नहीं, अपने परिचितों की ही प्रशंसा किया करता है। दूसरी मनोवृत्ति उसमें यह है कि उसने एक संकुचित मानदण्ड बना लिया है। वह मानदण्ड है राजनीतिक दृष्टिकोण और दल-विशेष द्वारा उस का व्यावहारिक कार्यक्रम। चाहे उस कार्यक्रम को प्रचारित करने वाला काव्य कितनी ही निकृष्ट कोटि का क्यों न हो, उसकी ही प्रशंसा की जाती है।

तीसरा दल प्रयोगवादी आलोचकों का है, जो केवल प्रगति तत्त्व को झुँठाने में तत्पर रहते हैं और पलायन के अनेक साधनों को शब्द-जाल में ढँककर प्रस्तुत करते हैं।

सबका सारांश यह है कि पहले से कुछ पूर्वाग्रह बना लिये गये हैं और जो कवि उनके अनुसार लिखते हैं उनका तो नाम लिया जाता है। वह नाम गिनाना भी इस तरह है कि अमुक विषय आवश्यक था और इस पर नवयुग के कवि ने लिखा है। क्या लिखा है, वह उद्धृत करने योग्य भी है, इसे आलोचक सोचने की भी आवश्यकता नहीं समझते।

अँगरेज़ी साहित्य में इतनी संकुचित अवस्था नहीं है। होना यही चाहिए कि पहले देखा जाये कि कवि क्या लिख रहे हैं। उनकी रचना क्या कहती है? वह किस कोटि की है? किन्तु यह न करके होता यह है कि आलोचक अपने आदर्श को काव्य में ढूँढ़ता है। काव्य देखा जाये और फिर उसका विवेचन, विभाजन करना तो वैज्ञानिक दृष्टिकोण है, पहले विभाजन विवेचन करके काव्य को उस पर फिट करने की प्रवृत्ति अवैज्ञानिक है।

समय आगया है कि आलोचना का क्षेत्र व्यापक हो। हम केवल अतीत की रचनाओं के प्रति ही सचेत रहें। यह तो कोई बुद्धिमत्ता नहीं है। साहित्य का सर्जन निरंतर हो रहा है और उसके प्रति जाग्रत रहना आलोचकों का आवश्यक कार्य है।

वर्त्तमान काव्य छायावाद की परम्परा में से जन्मा है। उसने वह माधुर्य्य विरासत में पाया है जो उसे भाषा ने दिया है और नये दर्शन ने उसे पौरुष दिया है जो उसे जागरूक और चेतन तथा सकर्मक बनाता है।

प्रगतिशील काव्य समाज की विषमता को लेकर साहित्य में आया था। उसने सबसे पहले व्याख्यात्मक रूप धारण किया क्योंकि वह नया दर्शन प्रस्तुत कर रहा था। काव्य की दृष्टि से जनता ने उसका अधिक स्वागत नहीं किया, क्योंकि इन कवियों में से महाकवि किसी को भी स्वीकार नहीं किया गया। छायावादी काव्य अपने महत्त्व को यदि अच्छी तरह प्रतिपादन कर सका तो प्रगतिशील साहित्य के अभ्युदयकाल में ही, क्योंकि तब ही नये काव्य की तुलनात्मकता में उसका लालित्य, उसकी परिष्कृति और स्थायित्व अपनी भाव भूमि पर आकर मुखर हो सका।

किन्तु युग आगे आ चुका था। वैयक्तिक विद्रोह जिसका दूसरा पक्ष पलायन में निवास करता था, वह छायावाद की अपनी विशेषता थी, जो इस नये युग में अधिक नहीं चल सकती थी। प्रगतिशील काव्य ने प्रतिक्रिया के रूप में वैयक्तिकता के प्रति इतना विद्रोह किया कि उसका व्यक्तिपक्ष काव्य में भावपक्ष में उतर कर नहीं आसका। जब वह प्रगट भी हुआ तो विचार प्रधान होकर और उसने हृदय को नहीं छुआ। जिन कवियों ने व्यक्ति पक्ष के अभाव में काव्यत्व की तृप्ति का अनुभव नहीं किया, उनकी रचनाओं में

व्यक्तिपक्ष छायावाद की परम्परा से आने के कारण उनके प्रगतिशील स्वर से मेल न खा सका और इस प्रकार व्यष्टि और समष्टि के दो दृष्टिकोण हो गये और एक ही कवि ने दो प्रकार की रचनाएं प्रस्तुत कीं।

आज के कवियों में जो तरुण अब उठ रहे हैं उनमें धीरे-धीरे यह भीतर और बाहर का फ़ासला दूर होता जा रहा है, यद्यपि अभी वह दूरी बाकी है। इसका प्रायः कारण यह है कि कवि को यथार्थ सत्य की अनुभूति अभी तक उसके निम्नमध्यवर्ग से आती है और उसके आदर्श का विचार, उसे युग परक बना कर, समाज पक्ष से अपनी प्रेरणा प्राप्त करता है। यह द्वंद्व उसकी एकरूपता का खंडन करता है और कवि की वह गहराई जो अपने श्रोता को प्रभावित करती है, वह अभी तक मुखर नहीं हो सकी है।

कवि यह नहीं भूल पाता कि सारी धरा छटपटा रही है। उसका अपना जीवन अभिशप्त है। चारों ओर विद्रोह की ललकार उठ रही है। मानवता एक नये स्वप्न को संजोये हुए बढ़ती चली जा रही है। और कवि चाहता है कि वह भी उस महान आन्दोलन में अपना स्वर मिला कर गा सके, उस शोषित जीवन की शक्ति बन कर फूट सके। एक कवि कहता है—

> क्षुब्ध है सारी धरा,
> विषमय उसाँसें रात की,
> अभिशप्त पीड़ा का गहन विस्तार।
> छटपटाहट, और शतशत क्षुधित बंदी
> कलपते विक्षिप्त से जो चबाते हैं सींखचों को,
> एक होकर कर उठें हुँकार!
> युग युगान्तर के मरुस्थल पार कर के
> जिन्दगी की चीख़ फटती सी तड़पती
> गर्म सीसे-सी गई भर कान में जो!
> आज है बेचैन करती
> विवश नर संतति शिला पर सिर पटकती....
> गूंज उठती और सहसा रेल की सीटी बिलखती
> दूर स्यारों का रुदन भग्नावशेषों में मचलता!

इस अंधेरी रात में जब मौन भी पाताल सा है,
तरक्की के कारवां की घंटियों की गूंज की रेखा
खिंची सी जा रही है आज मेरे काव्य के धौले फलक पर !

—अनन्तकुमार पाषाण

विषमता की यह घुटन कितनी सशक्त बन पड़ी है इसे कहने की आवश्यकता नहीं है। नये कवि ने जो उपमाएं प्रस्तुत की हैं वे चमत्कार दिखाने के लिये नहीं हैं। अभिव्यक्ति ने ही अपने स्वरूप को प्रगट किया है।

यह कविता जहाँ अपने साथ युग के परिवेश को स्पष्ट करती है, वहाँ कवि का आदर्श भी यथार्थ से अपना सामंजस्य करता है और साँकेतिक रूप से अपने को स्पष्ट कर देता है। मैं यहाँ कुछ ऐसे ही अन्य उद्धरण देता हूँ जो जीवन की विविध अनुभूतियों को प्रगट करते हैं। उनके पीछे एक जागरूकता है और ये कवि किसी मतवाद के अग्रगामीदल के चाकर नहीं हैं। साहित्य को इन्होंने अपनी श्री से अभी भरना प्रारंभ ही किया है।

कुत्सित समाज शास्त्र के अनुसार इनमें शब्द जाल ही है, परन्तु यह एक जीवित जाग्रत अवस्था की पुकार है और इसका अपना महत्व है।

जनजीवन के जिस चित्र को हरि व्यास ने प्रस्तुत किया है उसमें हमें एक प्रेरणाप्रंद स्फूर्ति प्राप्त होती है। प्रकृति के मनोरम दृश्य में उसने मानव के ग्रामीण जीवन को देखा है और इस नयी चेतना में अतीत की सत्ता वृद्धों के रूप में विद्यमान है, जो नवयुग के आगमन की तुलना में अधिक सशक्त और आकर्षक दृश्य उपस्थित करता है। कविता की कमनीयता उसे एक स्थायी मूल्य देती है—

नव प्रणय के जन्म के
आनन्द के त्यौहार
सावन की निशा में
सुख सने अभिसार धीमे
आगमन के गीत
लोरी औ बधाई
प्रिय गगन के आँसुओं से

सिक्त पद के चिन्ह
सिसकी औ, बिदाई
आज उन फ़ौजी घरों में बस रहे
जो कि कल तक मृत्यु
आशा की भयानक
डाकिनों के द्वार थे।
गोद में बालक लिये
उंगली उठा आकाश में
उड़ते हुए उस दूर तर
जाते हुए नव इन्द्रधनु
सी पाँख वाले
नील नभ के पोत को
दिखला रहा है वृद्ध कोई।

—हरिव्यास

इनके अतिरिक्त मैं आपका ध्यान उस पक्ष की ओर ले जाना चाहता हूँ जहां समवेदना अपना स्वरूप व्यक्त करते समय समाज की एक विषमता को स्पष्ट करती है, किन्तु अपने आप हमें एक विक्षोभ होता है, वह विक्षोभ संस्कृति को झकझोरता है। होता यह है कि एक कवि है, और एक चोर रात को उसके घर में घुसकर उसका कुछ माल ले जाता है और कवि प्रातः उठकर देखता है कि उसकी कविताएं भी चोर ग़लती से चुरा ले गया है। कवि को धक्का लगता है। यह उसे अपनी संपत्ति के खो जाने से भी अधिक दुख देता है, क्योंकि कवि के लिये उसकी कविता से बड़ा धन ही क्या है? और उसे चोर के प्रति घृणा हो आती है। वह सोचता है। एक व्यक्ति ने ऐसा क्यों किया कि वह चोरी करके लेगया? मनुष्य की वह कौन सी विवशता थी जिसने उसे इतने निम्नतल पर उतारा? मुझे यही भाव बहुत भाता है कि कवि चोर की मानवीयता को पहले देखता है। इस दृष्टि से बहुत कम देखा गया है। यहां नैतिकता नहीं, उसकी नीरसता के परे जो मनुष्य का मनुष्य से सम्बन्ध है उसकी ओर इंगित किया गया है—

चोरी करले गया बावले अपने कवि की, शापित कविकी,
पीड़ित कवि की, ऐसे कवि की
जिसने तेरा दर्द गीत के स्वर में गाया
जिसने यौवन के बदले में संकोची सा पतझर पाया
जिसने चोरी कभी नहीं की तेरे जलते अरमानों से
जिसने मुँह न चुराया अब तक पीड़ा के गीले गानों से
ऐसे कवि की कुटिया में घुसते लज्जा आई तो होगी
कदम कदम पर दर्द टीस की अँधियारी गाई तो होगी
छूते छूते मेरा आँसू भरा खजाना एक बार रोया तो होगा
तेरे कर में जाते जाते मेरा सपना हिलकी भर भर रोया होगा।

—मुकुट बिहारी सरोज

कवि की यह एप्रोच अपने आप में नवीन है। और यह यदि प्रगतिशील साहित्य नहीं है तो समझ में नहीं आता कि किस कोष्टक में इसे रखा जाय, क्योंकि मैं काव्य को कोष्ठक में रखा जाने वाली वस्तु नहीं समझता।

कवि ने आगे इस चोर की उस दयनीयता का वर्णन किया है जिसने उसे मजबूर किया। वह कहता है कि चोर मूलतः भला था। वह शायद झूम-झूम कर रामायण पढ़ता होगा, किन्तु वह करता भी क्या? इससे बढ़ कर इस समाज की विषमता पर इस परिस्थिति में कवि और क्या आघात करता? कवि का व्यक्तित्व यहाँ अपनी सीमा से ऊपर उठता है और व्यापक समष्टि से तादात्म्य करता है। कवि सीधे कुछ नहीं कहता। व्यंजना से जो बात निकलती है वही मर्म की ओर हाथ बढ़ाती है। युग-परक यथार्थ का सत्य ही कवि का विषय है। और उसी के चित्रण में ईमानदारी होने से कविता में इतनी शक्ति आ पाई है।

नये जीवन की शक्ति यहीं समाप्त नहीं हो जाती। प्रेम का अपना स्थान है। प्रगतिशील लेखकों ने प्रेम के प्रति प्रायः उदासीनता दिखाई है, क्योंकि उन्होंने प्रेम को बुर्जुआ वर्ग की विरासत माना है। उनकी राय में स्त्री पुरुष का प्रेम वर्गीय संस्कृति का अवशेष है। मनुष्य की सत्ता का सबसे जीवंत

भाग उनकी दृष्टि से अलग रहा है। यह ठीक है कि प्रेम मूलप्रवृत्ति होते हुए भी समाज पक्ष में अपना रूप निरन्तर युगों से बदलता रहा है, किन्तु वह प्रेम का वाह्य पक्ष है। वह पक्ष क्योंकि स्त्री और पुरुष की विषय सामाजिक स्थिति पर टिका है इसलिये उसका विरोध करना भी ठीक है, जब कि प्रेम को पलायन के रूप में लिया जाये। किंतु प्रेम जीवन को प्रेरणा भी देता है और उस रूप को न देखना भी एक अपूर्णता का प्रतिबिम्ब है। प्रकृतवाद और प्रेम की अनुभूति में गहरा भेद है, किंतु अरूप प्रेम ही श्रेष्ठ हो यह भी गलत है। प्रेम भौतिक पर ही आश्रित होता है। दो मनुष्यों की चेतना का यह समाश्रय प्रेम जब हृदय में उत्पन्न होता है तब व्यष्टि की भूमि में समष्टि का बीज पड़ता है और एक व्यापकता सामने आती है—

कि चूम लिया तुमने प्यार से मेरी मुग्ध मुँदी पलकों को
कि पुलकित हो ज्योंही खोल कर आँखें देखा मैंने
तुम्हारा वह अमिताभ मुख मण्डल
कि लो, खुल पड़े
सत्ता के अगम देवालय के वातायन
अरे, यह मैं क्या देख रहा, स्वप्न है कि सत्य है यह ?
तुम्हारे हृदय पद्म से उफन रहा ज्योतिर्मय
जीवन का आदि स्रोत,
शिशु की मुस्कान सी निर्मल यह दुग्ध धारा
मानव की चिरकाम्या
तुम्हारे प्यार की संजीवन सुधाधारा !

—वीरेन्द्रकुमार जैन

इस प्रेम में छायावादी दुरूहता नहीं है। इसमें रूप एक जाल नहीं जो कि जीवन को एकांगी बना रहा हो। वह तो उसकी वास्तविकता का आभास दे रहा है। समाज की विषमताएं भी साहित्य में इसीलिए दिखाई जाती हैं कि वे मनुष्य के सौंदर्य और सत्य पर व्याघात पहुंचाती हैं। साहित्य मूलतः सौंदर्य का सृजन है, क्योंकि जैसा कि मैंने अन्यत्र कहा है, सुन्दरता मनुष्य की चेतना की वह उठान है जिसमें वह सत्य को सर्व श्रेष्ठ रूप में

देखना चाहता है।

यहाँ आलोक है, स्नेह है।

यही स्नेह जब व्यक्ति के साथ रहता है तब वह कोमलता का सिरजन करता है, और जब वह समाज का व्यापक क्षेत्र देखता है तो न्याय की ओर उसकी दृष्टि जाती है। न्याय क्या है? न्याय उस नियमन की अभिव्यक्ति है, जिसे युग विशेष में अपनी परिस्थितियों में मनुष्य अपना सुन्दरतम चिंतन कहता है। यह न्याय निरंतर बदलता रहता है किंतु इसके मूल में जो चेतना है वह वही है कि मनुष्य सुखी रहे और उसका सुख सार्वभौम होकर रह सके।

१५ अगस्त के प्रति गिरिजाकुमार माथुर की कविता इसी व्यापक दृष्टिकोण को लेकर लिखी गई है। सामयिक विषय है, किन्तु जिस रूप से कवि ने उसका अनुभव किया है वह उसे आत्मसात कर गया है और वही मानव की विजय यात्रा का गीत बन गया है—

आज जीत की रात
पहरुए, सावधान रहना
खुले देश के द्वार
अचल दीपक - समान रहना
प्रथम चरण है नये स्वर्ग का
है मंज़िल का छोर
इस जनमंथन से उठ आई
पहली रत्न हिलोर
अभी शेष है पूरी होना
जीवन मुक्ता डोर
अभी शेष है मिटने को
दुखों की अन्तिम कोर
ले युग की पतवार
बने अंबुधि महान रहना,
पहरुए सावधान रहना। —गिरिजाकुमार माथुर

युग के संघर्ष के इस विवरण में लेखक ने मानव के महत् संघर्ष को पहँचाना है। यह भारतीय परिस्थिति पर लिखी गई कविता है, किन्तु किसी भी देश का व्यक्ति इसमें अपनी भावना की अभिव्यक्ति पा सकता है। हवाई होने वाली अभिव्यंजना किसी भी देश की नहीं होती और किसी भी देश का व्यक्ति उसमें अपनापन अनुभव नहीं करता। अनेक लेखकों ने इसी घटना के प्रति अपने उद्‌गार प्रगट किये हैं। जिन्होंने केवल हवाई मानवता के विषय में कहा है, वे किसी भी अनुभूति को जगाने में असमर्थ रहे हैं।

प्रगति की यह भावना नयी प्रतिभा को कितना प्रभावित कर रही है, यह इसीसे प्रगट है कि नया लेखक अपने सामने जिस भूमि को देख रहा है वह अपने लिये नए उद्देश्य को स्थापित करती है। विचारात्मकता का बोझ उसमें झलकता है। किन्तु कवि की पहुँच भाव प्रधान होती है और घनश्याम अस्थाना की कविता में ऐसे चित्र अधिकाधिक दिखाई देते हैं जिनमें भावना और कल्पना उसकी विचारात्मकता के साथ-साथ चलती हैं। अतीत के प्रति इस कवि का भाव यद्यपि सौन्दर्य के सृजन को ही देखता है, परन्तु उसका वर्त्तमान उसे सौन्दर्य का उससे भी बड़ा प्रतीक दिखाई पड़ता है। तभी वह बड़ी सौहार्द्र भरी सात्विक सरलता से अपने आप सम्बोधित व्यक्ति से कहता है—

मैं बड़ा मशकूर हूँ, तुमने मुझे झकझोर डाला
आज तक मैं किस नशीले सिन्धु की लघु-बीचियों में
विधु-किरण के मुस्कराते गीत-सा उलझा हुआ हूँ,
नींद की बरसात में रिमझिम किसी के मद-भरे-से स्वप्न
दृग की इन्द्रधनुषी पहेली बनकर मुझे तकते रहे हैं!
मैं कभी भी यह समझ पाया नहीं
संसार को भी है कहीं फ़ुर्सत कि दो पलकें लिए ही
रोक अपनी गति, करे सिंहावलोकन—
डगर पर मुड़ कर कि पीछे छोड़ आया है सफ़र में
आज तक कितने विकट वीरान
तपते शून्य से सुनसान रेगिस्तान,

जलती धूम में जिनकी रजत मरु पर बने
अगणित, अमिट पग चिह्न साक्षी दे रहे हैं—
सभ्यता के आदि स्रष्टा
आदि मानव की प्रगति का
कारवाँ गुज़रा इधर से।

—घनश्याम अस्थाना

अपने भाव माध्यम के प्रति इस प्रकार की व्यंजना अपने भीतर कितनी कलात्मकता छिपाए हुए है, यह हिन्दी के लिये अच्छी है। आश्चर्य तो यह है कि ऐसी रचनाएँ निकलती हैं किन्तु आलोचक उपेक्षा के गर्तों में भँवर डाले बैठे रहते हैं और उन पर ध्यान नहीं देते। घनश्याम की कल्पनात्मकता कितनी रंगीन है, कितनी सशक्त है, वह क्या देखने में सहज प्राप्त होती है! और जब कि कवि का मन एक व्यापक आधार पर आया है तब हमें व्यक्ति में अपूर्णता नहीं दिखती। इस कवि ने किसी दल के दस्तावेज़ को छन्दबद्ध नहीं किया, किन्तु दल वाले किसी कवि ने इतनी सशक्त कविता लिखी हो, ऐसा मुझे याद नहीं पड़ता। जिस निकृष्ट कला के उदाहरण में महाकवि कालिदास के मेघदूत का अनुवाद नागार्जुन ने प्रस्तुत किया है, वह कितनी लचर है, इसे समझने के लिये ऐसे कवियों को ही देखना आवश्यक है। नागार्जुन ने भारतीय संस्कृति के प्रति कितना बड़ा अपराध किया है, इसे इतिहास ही देखेगा और वही उस कविता को लुप्त करके उसके साथ न्याय भी करेगा। हिन्दी में युग के जागरूक स्वर उसकी भाँति निर्जीव नहीं हैं, यही सबके बाद संतोष है। कहीं भी अन्याय हो उसके प्रति वह अपनी विशाल हृदयता लिये हुए सन्नद्ध खड़ा है। उदाहरण स्वरूप एक कवि लिखता है—

हिरोशिमा का शाप—
एक दिन न्यूयार्क भी मेरी तरह हो जायगा;
जिसने मिटाया है मुझे वह भी मिटाया जायगा
आज ढ़ाई लाख में कोई नहीं जीवित रहा
न्यूयार्क में भी एक दिन कोई नहीं रह पायगा

मानलो मैं था कुटिल, मैं निर्दयी था क्रूर था
चीन को था रौंदता मैं विजय-मद में चूर था
किन्तु मेरे नागरिक सब भस्म जिसने कर दिये
वह घृणित श्वेतांग पशु राक्षस न क्या भरपूर था ?
मैं मिटा संसार को उसकी भविष्य दशा दिखा
मैं मिटा सब नगरियों को, विश्व से मिटना सिखा
देख लो लन्दन मुझे, पेरिस मुझे तुम देखलो
है सभी के भाग्य में इस भाँति ही मिटना लिखा।

—चंद्रकुँवर वर्त्वाल।

स्वर्गीय चंद्रकुँवर बर्त्वाल अकाल ही काल के गाल में चले गये। उनमें बड़ी साधना थी और यह पहाड़ी कवि भविष्य में नये रूप देता। जैसे पहाड़ के प्रदेश से सुमित्रानन्दन पंत ने हिन्दी को एक स्वरूप दिया, उसी प्रकार यदि जीवित रहता तो संभवतः यह कवि भी एक नया ही स्वरूप हिन्दी को देता। किन्तु दुर्भाग्य से वह जीवित नहीं रहा।

चंद्रकुँवर की कविता में हिरोशिमा के प्रति जो सहानुभूति है वह हृदय की सच्ची अनुभूति पर आश्रित है। चंद्रकुँवर किसी राजनीतिक दल का व्यक्ति नहीं था। उसने हिरोशिमा के प्रति होने वाले अन्याय के विरुद्ध उस समय यह आवाज़ उठाई, जब कि तथाकथित प्रगतिशील लेखकों में से एक में भी व्यापक मानवीय दृष्टिकोण की बात नहीं की थी। उस समय दलीय संस्कार जब कि मौका देखकर बात कहने की प्रवृत्ति को प्रश्रय देकर कुत्सित समाज शास्त्री आलोचकों को जापान की हार में मज़ा दे रहा था और प्रगति के गढ़ रूस की नयी संस्कृति ने भी निरपराध जनता के अनाम संहार की निंदा नहीं थी, यह कवि ऐसा कर रहा था। यह भी मेरी बात का एक समर्थन है कि कलाकार ही युगपरक अवसरवाद के परे व्यापक सत्य की बात कह जाता है, जो कि राजनीतिज्ञ अपने सुयोग देखने की परम्परा में नहीं कहता।

जीवन के प्रति प्रेम कोरे सिद्धान्त नहीं उत्पन्न करते। प्रेम सौन्दर्य के आधार पर जीवित रहता है—

ज़िन्दगी को भार मानूंगा नहीं मैं।
आन चलने में पथिक की मानता हूँ
बान चलने में पथिक की मानता हूँ
लक्ष्य का पाना ज़रूरी ही नहीं है
शान चलने में पथिक की मानता हूँ।
वह सिपाही क्या पराजय मानले जो
हार कर भी हार मानूंगा नहीं मैं।

× × ×

प्यार तो है ओस सा सुकुमार शीतल
ओस को अङ्गार मानूंगा नहीं मैं,
मौत, जीवन-मेघ की है बूंद अन्तिम
बूंद ही को ज्वार मानूंगा नहीं मैं।

—रामकुमार चतुर्वेदी

जीवन के कठोर संघर्ष में बहुधा यह दृष्टि लुप्त हो जाती है कि इस जीवन में दुख ही दुख नहीं, सुख भी है। जनवाद के नाम पर मानव की निराशा, उदासीनता का ही चित्रण करना या इनका चित्रण ही न करना दोनों ही निष्कृट कला को जन्म देते हैं क्योकि पहली परिस्थिति में व्यक्ति समाज की व्यापक जीवन्त शक्ति को नहीं देख पाता और दूसरी परिस्थिति में समाज के यथार्थ को न देखकर लेखक दलीय आज्ञाओं का पालन करते हुए समाज के यथार्थ को नहीं देखता और अपनी सिद्धान्तजाल की बालू में शुतुर्मुर्ग की तरह अपनी आँखों को मूंदकर बैठ रहता है। ऐसी ही जड़ता के कारण हर तीसरे महीने नयी गलती होती चलती है और उसका साहित्य सर्जन पर भी बुरा असर पड़ता है।

साहित्य तो वह है जो सराबोर जिन्दगी है, जिसमें बादलों की धड़कन है, मोरों की लरजती हूक है, आँसू हैं तो किसी के दिल की मरोड़ है और जब साहित्य में वही नहीं है तो है ही क्या? वह तो तब आती है जब लेखक की स्वायत्ति उसका अनुभव करती है। नये कवियों में नीरज में यह शक्ति अपने बीज दिखा रही है। दलित वर्ग को जल की उपमा देकर उसने

एक युग-सन्देश दिया है जो वास्तव में नया है—

यह जीवन-जल, है आसमान का नहीं मूढ़ !
धरती ने दिया उधार, धरा का यह धन है।

× × ×

उतनी ही और तेज़ होगी उसकी फ़ुहार
जितना ही ऊँचा उसे बसाया जायेगा।

शोषण की प्रचण्डता को उसने ज़बर्दस्त चुनौती दी है। क्योंकि उसमें आवेश नहीं, स्थिरता है। यह जीवन जल वास्तव में धरती का है। उसे आकाश में लेजाकर बंदी करने का कुछ लोग प्रयत्न कर रहे हैं। वे शोषक हैं। कवि बड़ी मस्ती से ललकारता है जैसे किसी समय कबीर ने स्वर उठाया था कि वही विजयी है जो काल की रेख पर मारता है। कबीर की वह सामाजिकता अपनी युग सीमा के कारण अन्ततोगत्वा व्यक्ति परकता का आश्रय ढूँढ गई थी, किंतु नीरज की सामाजिकता नये युग की वस्तु है, और उसमें व्यक्ति और समाज का तादात्म्म है। वह कहता है कि संकट अपने आप नहीं आता, है जब शोषण अपने उत्कट रूप को धारण करता है और यह उसकी पराजय का पर्य्याय है। तभी वह कहता है—

यह बादल भाप धुंए के गुब्बारे हैं बस
इनके बल का अभिमान स्वयं को छलना है
धरती की एक फूंक से ही ड़ जायेंगे
बस ज़रा देर है किसी हवा का चलना है।

(नीरज)

धरती की फूँक की व्यञ्जना जितनी सशक्त है, उतनी ही सरल भी है। काव्य जितना सरल होता है, उतनी ही उसकी कला भी उत्कृष्टता की माँग करती है। जिस प्रकार गोरा रंग काफी कुरूपता को छिपा लेता है, उसी प्रकार कठिन शब्दावली भी भाव निर्बलता को छिपा लेती है। ऐसी कुछ रचनाएं निराला और पंत की भी हैं, जिनमें केवल शब्द ही शब्द हैं, यद्यपि वे कम ही हैं। शब्दजाल से भाव की लचरता ढँक जाती है। किंतु अपनी उत्कृष्टता में कला वाह्य रंग पर निर्भर नहीं होती, वह अपनी आत्मा को

प्रगट करती है। प्रस्तुत कविता में यही गुण विशेष है।

घनश्याम के काव्य में यद्यपि नीरज की कविता की सी (Directness) सीधी प्रेषणीयता नहीं है, किंतु उसमें अपनी लोच है।

कवि साम्राज्यवाद के शव पर नवयुग की भाँति खड़े होने का गर्व अनुभव करता है। और वह नयी ज्योति का आवाहन करता है। हिंदी में यह नये भाव अपने सशक्त रूप में व्यक्त हुए है और भारतीय संस्कृति की ही परम्परा में हैं, यद्यपि प्रगतिशील तथा-कथित आलोचक अपनी सारी शक्ति को विदेशी ही समझते हैं। वे अपने संघर्ष में से उत्पन्न चेतना को अपनी कहते हुए भी हिचकते हैं। और ऐसे ही लोगों की रचनाएँ पढ़कर पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी जैसे विद्वान आलोचक भी अपनी अध्यापकीय धारा में 'हिन्दी साहित्य' में प्रगतिशील काव्य और साहित्य की यांत्रिक सी व्याख्या कर देते हैं। कवि कहता है—

मैं 'खड़ा हूँ' आज मृत साम्राज्य के शव पर गढ़ा कर पैर
सदियों से पड़ी जो बन्द कारा ठह चुकी है,
खण्डहर निष्प्राण से सहमे हुये मजबूर
वैभव-हीन सोते मौन ;
मेरे अर्घ्य-दीपक हंस उठे तुम जगमगा कर
चांदनी की रश्मियों-सी श्वेत, निर्मल शुभ्र
हिम की वालिका-सी शीत बिखरे
हासमय नव-ज्योति।

—घनश्याम अस्थाना।

जिस सामंतीय जीवन ने वैष्णव चिंतन के मानववाद और वैभव के स्वप्न देकर पूंजीवाद के उठते हुए समय में महाकवि रवींद्र की चेतना को इतना व्यापक बनाया था, वह भारतीय जीवन में आज सहस्रधा होकर प्रवाहित हो रही है। हिन्दी में वह जीवित है। और उसमें जीवन की कदर्यता के स्वप्न नहीं हैं, जो हैं भीं वे धारारूप में नहीं हैं, व्यक्ति रूप में हैं। यद्यपि आज हिंदी में एक ओर प्रयोगवाद अपनी मनोवैज्ञानिक उलझन लिए पलायन को प्रकारांतर से प्रचारित करके ह्रासशील व्यवस्थाओं को प्रश्रय देना

चाहता है, और दूसरी ओर ये कुत्सित समाजशास्त्री, व्यक्ति सदिच्छा का पूर्ण हनन कर, दलीय यांत्रिक जीवन को उस पर लादकर, सृजनात्मक प्रेरणा का ही हनन करना चाहते हैं, तब भी भारतीय परम्परा का अपना इतिहास है। उसी की प्रेरणा से मैथिलीशरण गुप्त ने अपने समय में भारत भारती लिखकर जागरण किया था, उससे पहले भारतेंदु ने रीतिकालीन जीवन में से नयी जागृति फैलाई थी और वह नये कवि में भी है। उसने किसी के पाँव पकड़ कर सिर उठाने में आनंद नहीं पाया है। वह आत्म सम्मान रखता है। वह अपने चिंतन को दास नहीं बना सका है। भारतीय चेतना ने अँगरेज़ी साम्राज्य के व्यापक शोषण में भी सिर नहीं झुकाया—

मेरे शरीर को वह चाहे
टुकड़े टुकड़े कर खा डाले
पर मैं अपना सिर ज़ालिम के
पैरों पर नहीं झुकाऊँगा,
यह जान चली जाये तो है
मुझको इसकी परवाह नहीं
मैं या तो विजयी होऊँगा
या लड़ता मारा जाऊँगा।

बलि दूँगा जननी मैं जीवन की बलि दूँगा
तुम्हें मुक्त करने को माँ सौ बार मरूँगा
थाम चक्र पीड़न का मैं अपनी छाती पर
उसे क्षीण कर दूँगा उससे मैं न डरूँगा,
व्यर्थ बहेगा नहीं रक्त मेरा पृथ्वी पर
रक्त उषा से मैं रवि को उत्पन्न करूँगा
—चन्द्र कुँवर बर्त्वाल

निस्संदेह हमारा नया साहित्य नये उपकरण ढूंढ रहा है और निरंतर व्यापक होता जारहा है। वह यदि किसी भी प्रकार कुचला जायेगा तो वह उसके सामने पराजित नहीं होगा। यह बात और है कि छोटी छोटी लहरें आकर विक्षोभ पैदा कर जाती हैं। कभी कभी ऐसा लगता है कि सचमुच ही

साहित्य अवरुद्ध हो जायेगा। किंतु दल या सिद्धांत जाल जनता में तब ही चलते हैं, जब वे वास्तव में जनवादी होते हैं और उनका संदेश व्यापक मानवता के आधार लेकर चलता है। मानवता का असली संदेश न देने पर तो वाह्यरूप से करुणा के आवरण को खड़ा करने वाला बौद्धमत, जो बिना रीढ की हड्डी के समान अपना रूप बदलता चला गया, अन्ततोगत्वा वैष्णव मानववाद के सामने टिक नहीं सका। इसी प्रकार सच्चा जनवाद असली कसौटी है, वह हिंदी में अपना विकास निरंतर करता जारहा है।

—४—

दर्शन, साहित्य, समाज और राजनीति का परस्पर अन्योन्याश्रित संबंध है। इस मिलन से संस्कृति की इकाई बनती है। इसका अध्ययन और विश्लेषण अत्यंत आवश्यक है क्योंकि वे एक दूसरे से अलग नहीं हैं। जब आलोचक एक पर दूसरे को हावी करते हैं, तब वे वास्तविकता से दूर हो जाते हैं और उस 'मुक्ति के प्रयत्न' को नहीं देखते, जिसके लिये मानव सन्नध रहा है। 'मुक्ति' कहते समय मैं भौतिक समाज की ही बात करता हूँ क्योंकि उसका भी विकास हुआ है। हेलेनीज़ के लिए देवताओं की ईर्ष्या एक महत्व की बात थी क्योंकि वे अपने खज़ाने को ऐसी जगह रखना पसद करते थे जहाँ चोर भी घुस सकते थे और कीड़े और जंग लग जाती थी। उनका राज्य धरती का ही राज्य था। पेरीक्लीज़ ने अपने देशवासियों को आह्वान दिया था कि वे महानता को निकल न जाने दें, अपनी 'समझ' में भरलें। जिस 'मुक्ति' की विवेचना मेलोस के यहाँ होती थी उसका तात्पर्य्य क़त्लेआम से, दास होने से बचना था, पाप या निराशा से बचना नहीं। १

यही मुक्ति की कामना जब समाज के विकसित होने पर व्यापक बनती गई तब वह भौतिक शरीर की मुक्ति नहीं रही। वह भौतिक के परे के सत्य को खोजने का प्रयत्न बन गई। ऐसा होने का एक कारण था। मनुष्य ने भौतिक को देखा तो उसने उसे स्थायी नहीं पाया। तब उसके मस्तिष्क में आया कि यह तो सब बदलता रहता है। फिर स्थायी क्या है? स्थायित्व की

१—ग्रीक हिस्टौरिकल थॉट आर्नल्ड जे० टायन बी० मई १९५२, पृ० १० भूमिका।

खोज ने दर्शन की व्याख्या को जन्म दिया। साहित्य में भी इस दर्शन की भूख ने प्रभाव डाला।

जिस साहित्य में दर्शन ने अपना स्थान ऊँचा रखा वह वास्तव में अपने युग की सीमाओं में बहुत अधिक बँधा हुआ था। बहुधा लोग दर्शन को स्थिर वस्तु समझते हैं। दर्शन कभी स्थिर नहीं होता। अपनी सीमा में अत्यंत पूर्ण दिखाई देने वाला दर्शन भी वास्तव में जीवन की पूर्ण व्याख्या नहीं होता। एक दर्शन दूसरे दर्शन को काटता है और अपने को स्थापित करता है। कालांतर में दूसरा दर्शन उसका स्थान लेता है। इसके साथ ही ऐसा भी देखा गया है कि एक दर्शन विभिन्न परिस्थितियों में अपना भिन्न रूपी विकास करता है, जैसे उपनिषद् के ब्रह्मवाद ने श्री वैष्णवों तक के संप्रदाय दर्शन तक अपना विकास किया। यह विकास, या एक बार ही प्रतिपादित होकर दर्शन का विकसित न होना बताता है कि दर्शन और कुछ नहीं एक विशेष सामाजिक व्यवस्था में की गई समस्त सत्ता की व्याख्या है, जो या तो बदलती रहती है, या विभिन्न सामाजिक वर्गों से प्रभावित होकर वह अलग अलग दृष्टिकोण प्रतिपादित करती है। यदि हम इस सत्य को समझ लेते हैं तो फिर दर्शन के जटिल जाल को भी समझ लेते हैं। विभिन्न परिस्थितियों में की गई विभिन्न व्याख्याओं को ही यदि उनकी वाह्य परिस्थितियों से अलग करके देखा जायेगा तो हम मानव के वास्तविक स्वरूप को नहीं समझ सकेंगे। वेदांत के विषय में तो कहा जा सकता है कि यह आज तक जीवित है। वह जब प्रतिपादित हुआ था, तब से तो अब तक बहुत विकास हो चुका है, फिर वह अभी तक 'निराला' आदि को क्यों इतना प्रभावित कर सका है। इसका उत्तर यही है कि विरासत का ढाँचा भी अपना असर डालता रहता है। हम जानते हैं कि छुआछूत या जाति प्रथा व्यर्थ है, परन्तु वह अभी तक भारत में जीवित है, पूरी तरह से टूट नहीं सकी है। यद्यपि साहित्य के दृष्टिकोण से अब छुआछूत, विधवा विवाह, दहेज प्रथा और धार्मिक रूढियों पर लिखना पुरानी बात पड़ गई है, किंतु सामाजिक जीवन में यह कुरीतियाँ पूर्णतया विद्यमान हैं। इसी प्रकार दर्शन भी नये युग की किसी न किसी संधि में घुसकर पलता है, जहाँ नयी व्यख्या करने की असमर्थता प्रगट की

जाती है ।

मार्क्सवाद ने जो दर्शन प्रस्तुत किया है अधिकाधिक लोग उससे आकर्षित होते जारहे हैं, किंतु अभी वह बौद्धिक स्तर पर भारतीय मस्तिष्क को बुद्धिजीवी वर्ग में भी संतुष्ट नहीं कर सका है । भारतीय मस्तिष्क ने वैसे तो विरासत में जड़वादी भौतिकवाद को भी चारवाक से पाया है, और अनात्मवादी अभौतिकवाद को बुद्ध से पाया है, तथा अन्य दर्शनों की विरासत से आत्मवादी अभौतिकवाद तथा अनात्मवादी भौतिकवाद भी प्राप्त किया है किंतु उसके लिये कुछ सीमा तक द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का सिद्धांत नया है । नया होने पर भी वह उसकेविरुद्ध नहीं है । मुख्यतः मार्क्सीय दर्शन के प्रति कुछ तो उसके सामाजिक पहलू ने विरोध को जन्म दिया है, और कुछ उसकी कुत्सित समाज शास्त्रियों द्वारा की गई व्याख्या ने । पहले पक्ष में तो जन-समाज की रूढिप्रियता और निहित स्वार्थ वर्गों का उसके विरुद्ध प्रचार है, दूसरे पक्ष में है—किसी विदेश का अन्धानुकरण और व्यक्ति को समाज जीवन में कुचल कर उसे यांत्रिक रूप दे देने का यत्न । अन्यथा भारतीय मस्तिष्क सदा से ही अपनी सारी अन्धपरम्पराओं के बावजूद दर्शन क्षेत्र में जितनी स्वतंत्रता देता है, उतनी कहीं भी नहीं बल्कि यह तो कहना ठीक है कि प्रत्येक दर्शन या जीवन दृष्टिकोण ने जो विभिन्न रूपों में अपने को व्यावहारिक रूप दिया है, वह सब अब भारत में विभिन्न संप्रदायों की उपस्थिति के रूप में मिलता है । द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी दर्शन वास्तव में समाज, जीवन और सृष्टि की मूलतः नवीन व्याख्या है ।

जादू आदिम समाज में पैदा हुआ था । (मनुष्य की आत्मानुभूति इससे पूर्व कि वह अपने को समझ सके ।) धर्म वर्ग-समाज में पैदा हुआ था । (मनुष्य की आत्मानुभूति जब कि वह अपने को खो बैठा ।) द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद वर्गहीन समाज में पैदा होने वाली वस्तु है । (मनुष्य की आत्मानुभूति जब वह फिर से अपने को समझ लेता है । १

क्रिस्टोफर कॉडवेल ने इस विषय पर विचार किया था । उसके कुछ निष्कर्ष अत्यन्त योग्यता से प्रतिपादित किए गये हैं, यद्यपि कई स्थलो पर

१—फर्दर स्टडीज़ इन ए डायिंग कल्चर, कॉडवेल पृ० २१

उसकी 'समझदारी' अपनी 'अति' के आवेश में, यांत्रिक भी बन गई है। इसका कारण उसकी पृष्ठभूमि थी जिसमें अँग्रेजी संस्कृति में आध्यात्मिक क्षेत्र की स्वतन्त्रता का अभाव कहा जा सकता है। किन्तु जादू का धर्म से जो संबंध था उस पर उसने अच्छी व्याख्या की है और उसे हम यहाँ उद्धृत करते हैं-

'जब कि विज्ञान की उन्नति और कला मनुष्य और प्रकृति के उचित सम्बन्ध को अधिक प्रगट करती हैं, मनुष्य की आत्मानुभूति और प्रकृति की आवश्यकता को अधिक स्पष्ट करती हैं, जिसे जादू अपूर्णता से प्रगट करता था, आर्थिक उत्पादन में श्रम विभाजन ने जादू का विकास किया था। दोनों विकास एक दूसरे के ऊपर आ गये और जादू गायब हो गया, पुराना पड़ गया, बहिष्कृत हुआ, सन्देह की दृष्टि से देखा जाने लगा, उसका स्थान अधिक से अधिक विज्ञान और कला ने लिया और उसी समय जादू अपने नये और अधिक सशक्त रूप में पुनः प्रगट हुआ : वही धर्म बना।'[२]

यह जादू अपने नये रूप में दर्शन की व्याख्या का स्वरूप लेकर उतरा। क्योंकि पहले की तुलना में रहस्यमय लगने वाले बहुत से सृष्टि के कार्य्य-व्यापार भी मनुष्य के सामने स्पष्ट हो चले थे और वह तर्क-बुद्धि पर भी अधिक आश्रित रहने लगा था। किन्तु विज्ञान के युग में ही मनुष्य की मेधा को व्यावहारिक क्रियाओं का पहले की तुलना में अधिक सम्बल मिला। इससे लाभ भी हुआ और हानि भी। पहले हम लाभ को लें। लाभ यह हुआ कि पहले जो बहुत कुछ चमत्कार पर निर्भर था वह स्पष्ट होने लगा और पहले की तुलना में उसके साथ लगी हुई मन समझौता करने वाली व्याख्या भी धीरे-धीरे त्याज्य होने लगी। ऐसा विज्ञान के प्रसार के पहले भी होता था। जब मनुष्य सृष्टि के किसी कार्य्य व्यापार को समझ लेता था तब उसकी व्याख्या भी बदल देता था। परंतु विज्ञान के प्रभाव ने उसकी इस क्षेत्र की गति को बहुत तीव्र कर दिया। पहले के युगों में, और अब भी, जहाँ विज्ञान के हाथ नहीं पहुँचते वहाँ मनुष्य ने सदैव किसी कल्पित व्याख्या को स्वीकार करके अपने मन का समाधान कर लेने का प्रयत्न किया है। इस दृष्टिकोण से जब हम देखते हैं तब अतीत की व्याख्या करते समय निम्नलिखित बातों पर

२—वही पृ० ३१

यान देना आवश्यक हो जाता है—

१] अतीत के युग की व्याख्या करते समय हमें मनुष्य के उन साधनों को देखना चाहिये जिनके द्वारा वह प्रकृति में रह कर, प्रकृति पर शासन करके अपने को उसका स्वामी बनाता था। कितनी सीमा तक उसका उन रहस्यों पर काबू चलता था और कितनी सीमा तक वह किसी भी वर्ग में रहकर भी उन रहस्यों के सामने सामान्य मानव की भाँति दयनीय रूप से असमर्थ था।

२] इस सत्य को मान लेने पर हमें उसकी 'सदिच्छा' के दोनों रूप प्राप्त हो जायँगे। एक रूप में तो मिलेगा कि उसकी सदिच्छा की सीमा ही अमुक विशेष थी, उसके आगे वह जानता ही न था और दूसरे रूप में मिलेगा कि अपने निहित स्वार्थों को चेतन रूप से बचाने के लिये वह किन रहस्य व्याख्याओं की अलौकिकता को बनाये रखना चाहता था तथा अचेतन रूप से स्वयं ही उन समाज सम्बन्ध में बन गई धारणाओं को निबाहने के लिये बाध्य था।

जब तक हम इन दोनों पक्षों को नहीं देखेंगे हमारी व्याख्या कुत्सित समाज शास्त्र के अन्तर्गत आ जायेगी। मैं इसको सोदाहरण स्पष्ट करता हूँ।

जिस युग में मनुष्य पहाड़ के सामने चिल्लाकर उसकी प्रतिध्वनि का कारण नहीं समझता था, वह पहाड़ को जबाव देने वाला समझकर उसको देवता मानता था। कालान्तर में उसने ध्वनि का नियम समझा और उस समय पर्वतों से देवत्व का भाव हटने लगा। पहले जो पर्वतों की पूजा थी वह कम हुई और इस प्रकार धन का होने वाला चढ़ावे भेंट का लाभ भी बंद होने लगा। परंतु पुजारी वर्ग ने फिर नयी कहानियाँ प्रचलित करके पहाड़ पूजा चालू रखी कि आय होती रहे, वह चेतन रूप से सृष्टि के रहस्य की व्याख्या को कुँठाना हुआ। इसके विपरीत मेघ का वर्षण था। बादल पर आदमी का अधिकार नहीं था। वह मेघ को देवता मानता था। बाद में मेघ की व्याख्या भी हो गई पर फिर भी उस पर काबू नहीं पाया जा सका। बादल वास्तव में जीवन का पर्य्याय था। बादल बरसे तो अन्न उगे और जीवन चले ! ऐसे समय में कहीं वह बरसता था, कहीं नहीं बरसता था। उस पर

किसी भी वर्ग का बस नहीं चलता था। तब उसे देवता ही माना जाता रहा और उसके लिये यज्ञ होते रहे।

हमें स्पष्ट मिलता है कि आर्थिक कारणों से बादल अर्थात् इन्द्रपूजा के यज्ञ से हानि होने के कारण धर्म के विरुद्ध कृष्ण ने गोप संगठन करके विद्रोह किया था और गोवर्धन पर्वत की पूजा इसलिये की थी कि वह आर्थिक रूप से लाभदायक था। इससे बढ़कर उदाहरण हमें भारतीय इतिहास में मिल भी क्या सकता हैं कि सचेत होकर धर्म को यहाँ के लोगों ने अपने लाभ के लिए इस्तैमाल किया था।

जो ब्राह्मण प्राचीनकाल में इन्द्र की भूरि-भूरि प्रशंसा गाया करते थे उन्हीं ने कालांतर में इन्द्र के ऊपर ब्रह्मा, विष्णु और महेश को स्थापित किया पहले ब्राह्मण केवल आर्य्य थे किन्तु जब ब्राह्मणवर्ग में विभिन्न जातियों के पुरोहित लोग घुसे तब सबके देवता मिल गये और जो देवताओं ने जन्म दिया और व्यापक अन्तर्भुक्ति से व्यापक देवता भी समाज में मान्य हुए जिनमें यदि शक्ति अधिक थी तो मानवीय रूप से उत्पन्न गुण भी कहीं अधिक थे। तब अपने आप केवल आर्य्यों के नेता इन्द्र की उपासना कम हो गई, किन्तु वह नष्ट नहीं हुई। इन्द्र छोटा बनकर भी जीवित ही बना रहा, क्योंकि जहाँ तक खेती का प्रश्न था, बादल का ही उससे सम्बन्ध था और बादल के नाते इन्द्र भी बना रहा, यद्यपि चिन्तन ने यह निश्चित् कर दिया था कि बादल ही सब कुछ नहीं हैं, उसके ऊपर भी कुछ था। वह क्या था! उसकी व्याख्या में ही उपनिषदों ने आत्मा और ब्रह्म का प्रतिपादन किया था सर्व शक्तिमान इन्द्र भी एक तिनके को जहाँ छू नहीं पाया, वहाँ उपनिषद् में नये देवता अथवा नयी व्यापक व्याख्या का प्रतिपादन ही था, जो नयी परिस्थिति की उपज था।

जो यांत्रिक व्याख्या करता है वह इन गहराइयों में नहीं जाता और केवल आर्थिक परिस्थिति को देखकर सब कुछ समझा देने का प्रयत्न करता है। प्राचीन काल को समझने के लिये इसीसे अनेक तथ्यों को देखना आवश्यक होता है। आर्थिक व्यवस्था का प्रभाव मूल में तो था परन्तु उस पर न जाने कितने प्रभाव पड़ते थे—सृष्टि के रहस्य के प्रति अज्ञान, असमर्थता, मनुष्य

की सदिच्छा का विवश रहना, जातियों की व्यापक अन्तर्भुक्ति, टॉटेम का विश्वास इत्यादि और भी अनेक कारण हैं जो सहज ही देखे जा सकते हैं। इनके अरिरिक्त हमें साथ-साथ ही वह भी देखना चाहिए जब कि आर्थिक व्यवस्था बहुत से अन्ध-विश्वासों का आसरा लेकर अपने को पल्लवित करती थी। इसके तो हर जगह उदाहरण मिलते हैं। देखते ही पहचान लिया जाये इसीसे कहा है—

'ब्रह्मचारी ब्राह्मण का दण्ड पलाश वृक्ष का होना चाहिये तथा ब्रह्मचारी क्षत्रिय का दण्ड वट का होना चाहिये जो गुद्दे में से निकाला जाये और वैश्य का बेर या गूलर का हो। कल्पसूत्रकार आचार्य्य सबका एक सा भी मानते थे।'[1]

इन छोटी-छोटी बातों पर भला ध्यान ही क्यों दिया जाता था? क्योंकि समाज व्यवस्था ऐसे छोटे-छोटे तथ्यों पर भी आश्रित थी।

हमने ऊपर कहा है कि जिस प्रकार विज्ञान ने लाभ किया उसी प्रकार उससे हानि भी हुई। हानि यह हुई कि विज्ञान के द्वारा मनुष्य ने पहले की तुलना में बहुत अधिक और बहुत कम समय में ऐसी उन्नति की जो उसने पहले नहीं की थी। इससे उस पर यांत्रिकता ने प्रभाव डाला और उसे लगने लगा कि वही वास्तव में समझदार है और पुरानी पीढ़ियाँ मूर्ख थीं। इस दर्प ने उसमें यह प्रवृत्ति पैदा की कि वह अतीत की यांत्रिक व्याख्या करने लगा और उसने या तो व्यक्ति को समाज से निरपेक्ष मानकर उसकी स्वेच्छा को ही सब कुछ माना या फिर व्यक्ति को समाज के दासरूप में स्वीकार करके उसकी सदिच्छा को ही झुँठा दिया। परिणाम दोनों अवस्थाओं में बुरा ही निकला। हम अन्तिम पीढ़ी नहीं हैं न पहली ही हैं। हमें अतीत की व्याख्या करते समय यह भ्रम नहीं हो जाना चाहिये कि हम ही अन्तिम चिन्तन के प्रणेता हैं। हमें यह भूल नहीं करनी चाहिये कि हम जिस व्याख्या को लेकर चल रहे हैं वही शाश्वत है। अब जो हो चुका है, बस इसी रास्ते पर ही

---

१. पालाशो दण्डो ब्राह्मणस्य नैय्यग्रोधस्कंधजोवाङ्ग्रोराजन्यस्य बादर औदुम्बरो वा वैश्यस्य ॥ आपस्तम्बीय गृह्य सूत्रम् ॥दशम् खण्ड १६॥ वार्क्षोदण्डइत्यवर्णं संयोगेनैकउपदिशन्ति ॥ वही। १७ ॥

आगे का विकास होता चला जायेगा। वास्तव में सृष्टि और भी बड़ी है। हमारी व्याख्या तो इस युग के समस्त साधनों और पुराने की विरासत से उपजी है और वह हमारे युग के चिन्तन का परिणाम है।

आज हमने सृष्टि के बहुत से रहस्यों को खोज निकाला है, ऐसे रहस्यों को जिनके बारे में प्राचीनकाल में लोग अज्ञान को ही पालते थे। किन्तु क्या इसका अर्थ है कि अब जानने को कुछ भी बाकी नहीं रहा है, कि अन्तिम निर्णय देने का अधिकार हमारी ही पीढ़ी को प्राप्त हो गया है।

हम यहाँ एक उदाहरण प्रस्तुत करते है।

यदि सूर्य्य को स्थिर मान लिया जाये तो ग्रहों के विस्तार का इस प्रकार अनुमान हो सकेगा :१

सूर्य्य :	से पाँच इंच की दूरी पर	—मरकरी
,,	से ८½ ,,	—वीनस
,,	से एक फुट	—पृथ्वी [सूर्य्य से ९३,००३,००० मील दूर है]
,,	से डेढ फुट	—मार्स
,,	से २ से चार के बीच में	—छोटे मोटे उपग्रह
,,	से ५ फुट की दूरी पर	—जूपीटर
,,	से ९½ ,,	—सैटर्न
,,	से १९ ,,	—यूरेनस
,,	से ३० ,,	—नैप्च्यून
,,	से ४० ,,	—प्लूटो

यह सौरमण्डल का रेखा चित्र है!

यह हमारे वर्त्तमान ज्योतिगति नापने के साधनों से प्राप्त ज्ञान है। इससे पूर्व हम इसे नहीं जानते थे। इसका प्रारम्भ अचानक ही हुआ था। गैलीलियो ने जब पहली दूरबीन बनाई थी तब उसके एक मित्र के द्वारा उसे यह पता चला कि चश्मे के दो शीशे ऊपर नीचे रखने से उसे कुछ अजीब सा दिखाई देता था। गैलीलियों ने शीशों पर प्रयोग किया और

१—न्यू हैण्डबुक आफ़ द हैविन्स-वर्नार्ड-बेनेट-राइस पृ० २१

उसे बड़ा सा दिखा। तब उसने दूरबीन के लायक शीशा बना लिया। अब यदि हम कहें कि यूरोप के रिनेसा के प्रभाव से गैलीलियों शीशे पर शीशा रखा और दूरबीन बनाई तो वह यांत्रिक व्याख्या होगी। वह तो अवतारवाद के सिद्धान्त को मानना होगा, कि उस समय ऐसी आवश्यकता थी और उस वस्तु ने जन्म लिया। हम जानते हैं कि भारतीय सामंतीय युग के ह्रासकाल में पूंजीवाद के उत्थान के लिये सारी भूमि तैयार थी, किन्तु मशीन का उत्पादन न हो सकने के कारण आर्थिक व्यवस्था में बौहरे का स्थान बढ़ जाने पर भी, पुरानी जातियों के नयी कौमियतों (nationalities) में परिवर्त्तित हो जाने पर भी, केवल व्यापार के संतुलन में परिवर्त्तन होकर रह गया, जहाँ उत्पादन के साधन नहीं बदल सके।

इस प्रकार कोई अन्वेषण व्यक्तिपरक रखकर देखा जाये, जहाँ यह पद्धति अनुचित है, उसी प्रकार कोई व्यवस्था जिस अन्वेषण को जन्म दे, उसी पर थोपा जाये यह भी यांत्रिक है। यह सत्य है कि आवश्यकता ही अन्वेषण की जननी है, किन्तु वह सदैव ही अपने लिये उचित समय पर अभिव्यक्ति का नया माध्यम ढूंढ सकी हो। यह ठीक नहीं है।

सूर्य्य और उसकी स्थिति आज जिस रूप में ग्राह्य है, प्राचीन भारत में दूरबीन की कमी से यद्यपि इतने उपग्रह ज्ञात न थे, और ग्रहों उपग्रहों को देवता भी माना जाता था, परन्तु अनथक परिश्रम से मनुष्य ने खगोल का काफ़ी अध्ययन कर लिया था। पहले वह सौरमण्डल के बाहर के बारे में बहुत कम जानता था। किन्तु इतने पर भी मनुष्य की जिज्ञासा अथाह थी। उसने इस सत्य को तो निश्चय ही जान लिया था कि जिस जग में वह रहता था, वह महत् था और उसको यदि वह विज्ञान के माध्यम से न जान सका, तो उसने उसकी कल्पना करने की चेष्टा की।

हम अपनी पीढ़ी में इस चेष्टा के प्रति हँस सकते हैं किन्तु अगली पीढी हम पर हँसेगी, क्योंकि हमारी बड़ी से बड़ी दूरबीन भी खं की २/३ परिधि भी नहीं देख सकी है। कितने ग्रहों पर जीवन है, कितने प्रकार का जीवन है, कितने स्तरों का जीवन है, अभी तक हम कुछ भी नहीं जान सके हैं।

भारतीय मनीषियों ने इसी अपनी निर्बलता को जान पर काल और

व्याप्ति को असीम माना था। हमारी गिनती में जो मील है वह आकाश और समुद्र के अगणित या अपरिमित होने का ही पर्य्याय था। शंख भी अपनी आकृति में कभी समाप्त न होने वाली चीज़ है। रेखा घूमती ही रह सकती है। पद्म में भी दल पर दल जोड़ते ही चले जाने से भी वह पद्म ही रहेगा और उसे भी कभी नहीं बनाया जा सकता, क्योंकि वह भी अनंत है। आइन्स्टाइन ने जब व्यापक शून्य की व्याप्ति के आँकड़े प्रस्तुत किये तब वह भी अपठनीय संख्या के रूप में प्रस्तुत होते हैं। भारतीय चिन्तकों ने इसी से वेद में सृष्टि का वर्णन करते हुए कहा था कि यथा पूर्वमकल्पयत्—अर्थात् पहले के समान बनाया आदिम मानव और उसके बाद की प्राचीन जातियाँ भी अपने को सृष्टि के प्रारम्भ में नहीं मानतीं थीं, वे सब भी अपने को इतना ही परवर्त्ती मानती थीं, जितना हमारी पीढ़ी अपने को मानती है।

भारतीयों ने समय की बड़ी लंबी चौड़ी कल्पना प्रस्तुत की है। इसमें असीम की झलक देने का प्रयत्न किया गया है क्योंकि मनुष्य की चेतना व्यापक सत्य को देखना चाहती थी। कहा है—

[1]महामन्वन्तर का स्वामी—महाविष्णु है। सूर्य्य महाविष्णु का प्रकाश है। वही हमारे संसार के समय और व्यापकता का मानदण्ड है। सूर्य्य की गति से घटी, महाघटी, दिन, सप्ताह, पक्ष, मास और वर्ष होते हैं। हमारे सात ग्रह हैं : सूर्य्य, चंद्र, भौम, बुद्ध, जीव, भृगु, शनि

सप्तग्रह के साथ एक सूर्य्य	=	१ ब्रह्माण्ड, जो एक व्यापक चक्र में घूम रहा है। इसका निर्माता और स्वामी ईश्वर है।
७ ब्रह्माण्ड	=	१ जगत्, इसका निर्माता और स्वामी हरि है।
१००० जगत	=	१ विश्व, जिसका नि० और स्वा० हर है
१५,०००,००० विश्व	=	१ महाविश्व ; परमेश्वर है नि० स्वा०
२ शंख महाविश्व	=	१ लोक ; परमेश्वर है नि० स्वा०

१. प्रणववाद-गार्ग्यायण : भगवानदास भाग १ १९१० पृ० ८०-८१

१ महाशंख लोक = १ महालोक ; महेश्वर है नि० स्वा०
१०० पद्म महालोक = १ संसार ; महाविष्णु है नि० स्वा०

यद्यपि अनेक प्रकार के वर्णनों में इस वर्णन के विषय में भेद प्राप्त होते हैं। फिर भी इस वर्णन का उद्देश्य क्या है ? क्या सचमुच किसी ने इस सबको देखा था ? पुराने विचारों के लोग कहते हैं कि प्राचीनकाल के ऋषि मुनि योग मार्ग से इन सत्यों को जा सके थे, हम योग के विकास को जानते हैं, अतः इस पर ध्यान देने की आवश्यकता नहीं है। भारतीय परम्परा ने प्राचीन को रखा अवश्य है परन्तु इतिहास का वर्त्तमान दृष्टिकोण होने के कारण उनके विषय में क्रम नहीं मिलता। उदाहरण के लिये भृगु है। उसे लोग एक ही व्यक्ति समझते हैं जब कि मत्स्यपुराण १४ भृगुओं के नाम गितता है, जो प्रगट करता है कि भृगु एक व्यक्ति नहीं, कोई वंश विशेष था। योग की सीमा रही है। उपयुक्त विश्व ब्रह्माण्ड वर्णन केवल इस बात को बनाता है कि मनुष्य ने अपनी समस्त युग सीमाओं के रहते हुए भी यह सत्य जान लिया था कि उसकी अपनी पृथ्वी बहुत बड़ी नहीं है और भी व्यापकरूप रूप से विस्तृत सृष्टि अपार है। इस सत्य ने उसकी दृष्टि को उदारता दी।

इसी सिलसिले में उसने अपने समय के ज्ञान को भी विस्तृत किया। ६००० वर्ष में सृष्टि को समाप्त कर देने वाली यूरोप की सांस्कृतिक परम्परा का भारत की इस व्यापक दृष्टि से तुलना करना आवश्यक है।

युगों का वर्णन यों है—[1]

कृतयुग = १७,२८००० वर्ष
त्रेतायुग = १२,९६००० ,,
द्वापर = ८,६४००० ,,
कलि = ४,३२००० ,,
एक चतुर्युग = ४३,२००००
१००० ,, = १ वियुग
१००० वियुग = १ महायुग

[1] गार्ग्यायण का प्रणववाद भगवानदास भाग १ १९१० पृ० ७८-७९

१००० महायुग = १ कल्प
७ कल्प = १ महाकल्प
१४ महाकल्प = १ चक्र
१४ चक्र = १ निष्ठ
१४ निष्ठ = १ मनु
(२ मनु = १ मन्वन्तर)
१४ मनु या / ७ मन्वन्तर } = १ { महा मन्वन्तर
७ महामन्वन्तर = १ निच्च
७ निच्च = १ चाढ्य
७ चाढ्य = १ दैव
७ दैव = १ विनिहित चक्र

इतना करने की आवश्यकता क्यों पड़ी? इसका उत्तर दिया जा चुका है। पुराणों में रेवत और ब्रह्मा मिलन में हाहाहूहू के संगीत समाप्त होते-होते पृथ्वी पर युगों का बीतना, बलराम का जन्म होना केवल समाज की व्यापकता दिखाने को है कि मनुष्य जिसे अपना सर्वव्यापी सत्य कहता है, वह सृष्टि की व्यापकता में कुछ नहीं है। किन्तु मैं पहले कह चुका हूं कि व्यापकता का यह सत्य जब कि एक ओर लाभ है, दूसरे पक्ष में वह हानि भी है। रेवत की पुत्री का ही बलिराम के हल द्वारा ऊँची से नीची किया जाना इसी प्रकार के बुढिया पुराण की कल्पना है, जिसने व्यापकता की जगह अन्धविश्वास को जन्म दिया। यह पुरोहितवर्ग के प्रयत्न का फल कहला सकता है।

समाज के प्राचीनतावादी सुधारकों ने भी अनेक कारणों से इस पद्धति को अपनाया है। स्वामी दयानन्द ने भी जातीय गौरव उठाने को ऐसे ही वेद के विषय में लिखा था।

यद्यपि हम जानते हैं कि दयानन्द के पहले एक लंबी परम्परा थी जिसमें वेद को अपौरुषेय कहा जाता था, फिर भी हम इसका कारण केवल पुरोहित वर्ग पर ही डाल सकते हैं, वे अपने किसी स्वार्थ विशेष से प्रेरित होकर ही

सचेत या परम्परात्मक रूप में इसी को दुहराते रहे। यह तो तब है जब वेद में मंत्र निर्माता असंख्य ऋषियों के नाम आते हैं, परन्तु उन्हें तो 'इलहाम' भर होता था जब वे बोल उठते थे।

वेद की उत्पत्ति कब हुई। स्वामी दयानन्द लिखते हैं—

एक वृन्द छानवे करोड़ आठ लाख ५२ हजार ७७६ वर्ष हो चुके हैं। यह सातवें वैवस्वत मनु का समय है। इससे पूर्व ६ मनुओं—स्वारोचिष, औत्तमि, तामस, रैवत, चाक्षुस का समय बीत चुका है। और सावर्णि आदि ७ मावन्तर आगे भोगेंगे। गणना इस प्रकार है—

७१ चतुर्युगी = १ मन्वन्तर

सत्रह लाख २८ हजार वर्ष = सत्ययुग
बरह लाख ९६ ,, ,, = त्रेता युग
आठ लाख ६४ ,, ,, = द्वापर युग
चार लाख ३२ ,, ,, = कलि युग

तेतालीस लाख बीस हजार वर्ष=१ चतुर्युगी

७१ चतुर्युगी=तीस करोड़ ६७ लाख २० हजार वर्ष=१ मन्वन्तर

६ मन्वन्तर =१ अरब ८४ करोड़ ३ लाख २० हजार वर्ष

सातवें मन्वन्तर में २८ चतुर्युगी हैं।

इस समय (ग्रन्थ लिखने के समय) कलियुग के इस चतुर्युगी में ४ हजार ९७३ वर्षों का भोग हो चुका है और बाकी ८ लाख २७ हजार २४ वर्षों का अभी बाकी है।

१२ करोड़ ५ लाख बत्तीस हजार ७७६ वर्ष=मनु के भोग्य हुए।

१८ करोड़ ६१ लाख ८७ हजार २४ वर्ष=भोगने को बाकी हैं।

विक्रम का १९३३ संवत् कलि का ७७ वाँ वर्ष है।

१००० चतुर्युगी=एक ब्राह्मदिन

१००० चतुर्युगी=एक ब्राह्मरात्रि

वर्त्तमान ब्राह्मदिन में एक अरब ९६ करोह ८ लाख ५२ हजार ९७६ वर्ष इस सृष्टि की तथा वेदों की उत्पत्ति में व्यतीत हुए।

दो अरब ३३ करोड़ ३२ लाख २७ हजार २४ वर्ष इस सृष्टि को भोग करने में बाकी रहे हैं।[1]

धर्म के रूप में इन विचारों को प्रश्रय दिया गया और मानव की वह विरासत छोड़ दी गई जब कि उसने व्यापकता की कामना की थी। समाज के विकसित न होने से जो भाग्यवाद उस पर लदा हुआ था, उसके परिणाम स्वरूप वह व्यापकता, 'पूर्वकल्पित वाद' के चक्कर में डाल दी गई और उसको रूढ़ि की भाँति पकड़ कर रखा गया।

किन्तु जब समाज की आवश्यकता ने उत्पादन के साधनों का बदलना प्रारंभ किया और उससे विचार पर भी प्रभाव पड़ा तब आवश्यकता के अनुकूल ही मनुष्य को नई बात सोचने को बाध्य होना पड़ा, चाहे वह ऐसा कितने ही सीमित क्षेत्र में क्यों न कर सका। रूढ़िबद्ध होकर भी उसने समाज पक्ष में सुधार करने को रूढ़ियाँ तोड़ने का भी प्रयत्न किया। इसका उदाहरण हमें दयानन्द में प्राप्त होता है। स्वामीदयानन्द ने लिखा है :

'दुर्गा पाठ में देवी का वर्णन लिखा है कि राजा भोज के राज्य में व्यास जी के नाम से मार्कण्डेय और शिवपुराण किसी ने बना कर खड़ा किया था, उसका समाचार राजाभोज को विदित होने से उन पण्डितों को हस्तच्छेदनाभि दण्ड दिया और उनसे कहा कि जो कोई काव्यादि ग्रंथ बनावे तो अपने नाम से बनावे, ऋषि मुनियों के नाम से नहीं। यह बात राजा भोज के बनाये संजीवनी नामक इतिहास में लिखी है जो ग्वालियर के राज्य 'भिंड' नामक नगर के तिवारी ब्राह्मणों के घर में है जिसको लखुना के रावसाहब और उनके गुमाश्ते रामदयाल चौबेजी ने अपनी आँख से देखा है उसमें स्पष्ट लिखा है कि व्यासजी ने चार सहस्र चार सौ और उनके शिष्यों ने पाँच सहस्र छः सौ श्लोक युक्त अर्थात् सब दससहस्र श्लोकों के परिमाण में महाभारत बनाया था वह महाराजा विक्रमादित्य के समय में बीस सहस्र महाराज भोज कहते हैं कि मेरे पिताजी के समय में पच्चीस सहस्र और अब मेरी आधी उमर में तीस सहस्र श्लोक युक्त महाभारत की पुस्तक मिलती है, जो ऐसे ही बढ़ती चला

१ ऋगवेदादिभाष्य भूमिका पृ० २३-२४ सं० १९५९ अजमेर।

तो महाभारत एक ऊँट का बोझा हो जायेगा इत्यादि[१]'

इत्यलम् ! वस्तुस्थिति किस प्रकार अपनी आवश्यकता के अनुसार प्रेरणा देती है, यह इससे स्पष्ट हो जाता है। यही युग की सीमा का भी हाल होता है। युग की अपनी सीमा सदैव प्रत्येक पीढ़ी की ज्ञानगम्यता की सीमा को ही प्रदर्शित करती है। राजनीतिज्ञों में उसे शाश्वत सत्य समझा जाता रहा है। बल्कि कहना चाहिये कि प्रायः समाज के समस्त अङ्ग ही ऐसा समझते हैं, केवल कलाकार ही अंशत' उससे युक्त होता है। इसका एक कारण है। प्रत्येक अङ्ग में व्यक्ति का केन्द्र अपना व्यक्ति होता है और सारे संसार को अपने व्यक्ति से ही वह सापेक्ष संबंध में रखता है। साहित्य सर्जक का व्यक्ति एक व्यक्ति न होकर अंशतः एक व्यक्तित्व होता है, जो अन्य व्यक्तियों से सीधा संबंध रखता है और इसलिये उसका केन्द्र अपना व्यक्ति न रह कर व्यापक समाज होता है। वह ही दूसरों के जीवन को सांगोपाँग रखकर देखता है, तब ही जब कि वह अच्छी कल्पना के सत्य को लागू नहीं करता, वरन् समाज के यथार्थ सत्य को ही देखता है। कलाकार समाज की इस अध्ययन दृष्टि को रखने के कारण आगे की बात भी कहता है। वैज्ञानिक का सत्य वाह्य परिस्थिति को बदलता है और अपना प्रभाव डालता है जिससे मनुष्य के विश्वास भी बदलते हैं किंतु कलाकार सब परिस्थितियों में मनुष्य का सांगोपाँग अध्ययन करता है और वह ही विभिन्नत्व में एकत्व की अविच्छिन्न धारा को स्थापित किया करता है। इसीलिये विज्ञान का सत्य कलाकार के सत्य की भाँति अपना स्थायी महत्त्व नहीं रखता। कलाकार का सत्य पुराना पड़ जाने पर भी अपना मूल्य कम नहीं पाता।

कोपर्निकस यह विश्वास अपने प्राचीनों से प्राप्त कर सका था कि आकाश में अन्य ग्रहादि अपनी कीली पर निरन्तर एक विशेष गति से घूमते रहते हैं। इसी सिद्धान्त से उसने यह भी कहा कि धरती भी घूमती है। उसने कहा कि जब वह देखते हैं तब वह घूमता हुआ नहीं लगता। इसका अर्थ यही हुआ कि जहाँ से हम देखते हैं, अर्थात् पृथ्वी से, तो वह भी इन ग्रहादिकों की परिधि के बीच में स्थिर नहीं है। सब कुछ विपरीत दिशा में जा

१ सत्यार्थप्रकाश पृ० ३१५-१६

रहा है, और हम भी जारहे हैं। हमारे घूमने का एक एक प्रमाण यह है कि हम पश्चिम से पूर्व को घूमते है, जिससे सूर्य का उदयास्त होता है। कोपर्निकस के उपरांत यह धारणा भी बढ़ गई कि ब्रह्माण्ड असीम है। पहले के संकोच टूट गये। पता चला कि यह जो बहुत नक्षत्र हैं, यह तो स्वयं हमारे सूर्य्य के समान हैं, उनसे बड़े हैं।१

विज्ञान की यह खोज कहाँ जाकर समाप्त होगी इसका अनुमान भी नहीं नहीं लगाया जा सकता। परन्तु हम जब गति में हैं, तब हम भविष्यत् के किसी भी क्षण को विरामस्थल बनाकर उस पर ही विश्राम का आश्रय नहीं रख सकते। हमारी तो सारी सत्ता गतिमय है और अक्षुण्य गति होने के कारण हमारा वर्त्तमान ही हमारे संघर्ष तथा विश्राम का आश्रय है, वह किसी भविष्यत् पर निर्भर नहीं हो सकता। जो यह सोचते हैं कि इतना काम कर लेने के बाद मानवता के संकट दूर हो जायेंगे वे यही सोचते हैं कि इतना कर लेने के बाद मानव के पास कुछ करने को नहीं रह जायेगा' तब वह केवल खाने पीने में मस्त रहेगा। मैं इससे सहमत नहीं हूँ। भौतिक परि-स्थिति जितनी अच्छी होती जायेगी, यदि उसमें समाज सुव्यवस्थित होगा और व्यक्ति की सदिच्छा को विकास करने की पूर्ण स्वतन्त्रता होगी, तो व्यक्ति काहिल नहीं होगा, वरन् वह और आगे बढ़ने की प्रेरणा पाकर अपने व्यक्तित्व का विकास करने का यत्न करेगा। इसी से गतिमयता में विश्राम गति से बाहर हटकर नहीं है। सारे सौंदर्य का सृजन इसी गति में है, और गति में होने से ही उसमें पूर्णता भी आ सकेगी।

ऐंगिल्स ने कहा है: हेगेले के अनुसार यथार्थता (सत्य) किसी विशेष सामाजिक या राजनैतिक परिस्थिति पर निर्भर नहीं करती। वह इसके बिप-रीत है। रोमन गणतंत्र सत्य था, किंतु उसके बाद जो रोमन साम्राज्य आया वह भी ठीक था। १७८६ का फ्रेञ्च साम्राज्य असत्य होगया था, उसकी जगह फ्रेञ्च क्रान्ति आगई। इसी प्रकार विकास में जो पहले हुआ वह दूसरे के आने पर ठीक नहीं रहा। अनावश्यक होगया, उसके जीवित रहने का

---

१ द वर्ल्ड आफ़ कोपर्निकस एन्गस आर्मिटेज पृ० ११०

अधिकार समाप्त होगया। एक यथार्थ के रूढ़िवादी होते ही उसकी जगह दूसरा यथार्थ आ जाता है जो कि जीवन शक्ति रखता है—यदि पुराना यथार्थ बुद्धि से काम लेता है तो वह बिना संघर्ष के शांति से समाप्त होकर दूसरे को जगह दे देता है। वर्ना वह आवश्यकता के कारण उखाड़ दिया जाता है। २

विकास के इस लंबे क्रम में यदि किसी भी युग का व्यक्ति अगली मंजिल की कल्पना करता कि वहाँ मनुष्य स्वतंत्र होगा। तो वह भूल ही होती। मेरे मित्र कह सकते हैं कि मैं यहाँ युद्ध और शांति की अवस्था का भेद नहीं कर रहा हूँ। नहीं, मैं इसको स्पष्ट करना चाहता हूँ। युद्ध और शांति केवल मात्राभेद ही हैं। जिस समाज में शांति है, वह भी वास्तव में संघर्षमय है। युद्ध उसकी असित छाया है। युद्ध तो होता ही तब है जब झटके से कुदान से (leap) काम लिया जाता है। आज तक युद्ध निहित स्वार्थों को लेकर ही होते रहे हैं। भविष्य में जब वर्गहीन समाज होगा तब भी युद्ध नहीं रुकेगा। युद्ध का रूप बदलेगा। युद्ध तब मनुष्य और मनुष्य में न होकर, मनुष्य के ज्ञान और प्रकृति के रहस्य के बीच में होगा। यह व्यापक परिभाषा है। इस निरन्तर विकास की दृष्टि से जब मनुष्य और मनुष्य का अज्ञान से या ज्ञान से युद्ध हुआ है, तब वह किसी विशेष अधिकार की रक्षा के लिये ही हुआ है। इसी से मैं यही कहता हूँ कि न युद्ध ही मानवता के लिये विश्रामस्थल है, न शांति ही। युद्ध में वह कलुष का संहार करता है। शाँति में वह संहार के बाद सृजन करता है। इस द्वंद्व ने मानव समाज को इतना बढ़ाया है, इतना व्यापक बना दिया है कि अब मनुष्य आपस में लड़ने को ठीक नहीं समझता उसमें मानवता का हनन देखता है। मनुष्य के विकास के लिये सारे मानव की एक इकाई मानना आवश्यक है और इसीसे मनुष्यत्व का विकास सर्वोपरि रखकर देखा जाता है। किंतु इस अविच्छिन्नधारा में वह कौनसा ऐसा भविष्य है जिस पर हम अपनी कल्पना को टिकादें। रूसीक्रान्ति में तल्लीन नेताओं ने कहा था कि यह समय साहित्य विषयक विवादों का नहीं है। मायकोवस्की ने भी यही कहा था। आज भी इलिया एहरेनबर्ग यही कह

---

२ वही ,, ,, पृ० १३०

३ वही ,, ,, पृ० १५८

सका है। अपनी राइटर एण्ड हिज़ क्राफ्ट में उसने कहा है—मैं निश्चय से नहीं कह सकता कि मूल सिद्धान्तों पर विवाद उठाने का समय आ गया है या नहीं)। मैं कह सकता हूँ कि रूस ने काफ़ी विवाद भी किया है, बल्कि मूलभूत सिद्धान्तों पर वहाँ भारी बहसें हुई हैं और साहित्य के निर्माण के विषय में यह जागरूकता विशेष रूप से रखी गई है। भारतीय चिन्तकों ने तो कभी यह माना ही नहीं कि साहित्य या कला भविष्य की वस्तु है, प्रत्येक युग की नहीं। और यह तो तब जब यहाँ शाश्वत को माना गया है। द्वन्द्वात्मकता कभी भी जीवन को स्थिर नहीं मानती। वह तो निरंतर गति को मानती है। प्रवाह और नैरंतर्य्य ही उसकी विचारधारा में आवश्यक होते हैं। उस प्रवाह में सतत उन्नति है, स्वरूपों का अपने रूप परिवर्त्तन में रत रहना है। अर्थात् अपनी शक्ल बदलते रहना है। इस निरंतर विकास में कुछ नया सदैव बनता रहता है और उससे कुछ नया उन्नति करता रहता है तथा साथ ही किसी का रूप बिगड़ता हुआ अपने रूप को विलीनीकरण करता हुआ लुप्त होता रहता है।[1] इस द्वन्द्व में सृजन संहार दोनों ही निरंतर रहते हैं और सदैव ही इनकी अवस्थिति विद्यमान रहती है।

ऐंगिल्स ने इस परिवर्त्तन का सामाजिक पक्ष दिखाया है।[2] सभ्यता का

1, Contratry to metaphysics, dialectics holds that nature is not a state of rest and immobility, stagration and immutability, but a state of continuous movement and change, of continuous renewal and development, where something is always arising and developing, and something always disinstegrating and dying away.

(Dialectical & Historical materialism.
J. stalin. moscow 1952. pp. 8—9)

2. Each new advance of civilization is at the same time a new advance of inequality. All institutions set up by the society which has arisen with civilization change into the

प्रत्येक नया चरण समाज में असाम्य का एक नया चरण भी बन जाता है। सभ्यता ने जो अनेक संस्थाएँ स्थापित की हैं वे अपने मूल उद्देश्य के विरुद्ध हो जाती हैं। यह तो एक निर्विवाद सत्य है कि जब जनता अपने ऊपर सरदार चुनती है तब अपनी रक्षा के हितार्थ ही चुनती है न कि अपनी स्वतंत्रता का नाश कराने के लिये। फिर भी वे सरदार जनता के शोषक बन जाते हैं और शोषण बहुत बढ़ जाता है, अपनी सीमा तक पहुंचा हुआ शोषण अर्थात् असाम्य फिर अपनी विपरीतावस्था में परिणित हो जाता है और इस प्रकार साम्य का कारण बन जाता है—निरंकुश शासक के सामने सब बरा-

opposite of their original purpose. "It is an incontestable fact, and the basic principle of all constitutional law, that the people set up their chieftains to safeguard their liberty and not to destroy it." And nevertheless the chiefs necessarily become the oppressors of the peoples, and intensify their oppression upto the point at which in equality, carried to the utmost extreme, is again transformed into its opposite, becomes the cause of equality; before the despot all are equal—equally ciphers. "Here we have the most extreme degree of inequality, the final point which completes the circle and meets the point from which we set out; here all private individuals are equal, just because they are ciphers, and the subjects have no other law but the will of their master." But the despot is only master so long as he has power, and therefore when "he is driven out, he cannot complain of the use of force.........Force maintains him in powers and force overthrows him; everything proceeds in its right and natural course." And so inequality is once more transformed into equality; not however, into the former natural equality of speechless primeval man, but into the higher equality of the social contract. The oppressors are oppressed. It is the negation of negation. (Anti Duhring, F. Engels, Moscow 1947. pp. 207—8.)

बर हो जाते हैं, सब ही शून्य समान रहते हैं। निरंकुश शासक के शासन में हमें असाम्य की चरमावस्था दिखाई देती है, वह अन्तिम विन्दु होता है जो गोले को पूरा करता है और एक नये विन्दु पर पहुँचता है जहाँसे हमारी रेखा फिर प्रारम्भ होती है। यहाँ सब साधारण व्यक्ति समान होते हैं क्योंकि वे शून्य (०) हैं और अधिकृतों का कोई कानून नहीं होता केवल उनके स्वामी की इच्छा ही उनका कानून होती है। किन्तु निरंकुश शासक तभी तक स्वामी होता है जब तक उसके पास अधिकार होता है और इसीलिये जब वह अधिकार हीन करके निकाला जाता है तब उसे यह अधिकार नहीं होता कि वह हिंसा की शिकायत करे······शक्ति और अधिकार उसे ताकत में रखते हैं और वही उसे हटाकर फेंक देते हैं, बाकी हर चीज अपने उचित और प्राकृतिक रूप में चलती रहती है। इस प्रकार जो असाम्य होता है वह फिर साम्य में परिणित हो जाता है; और इस बार का साम्य पुराने अवाक आदिम मानव का साम्य नहीं होता, किन्तु यह साम्य समाज में परस्पर हो जाने वाले निर्णयों पर आधारित उच्चतर साम्य होता है। अर्थात् समाज में अन्योन्याश्रय पर निहित होने वाला साम्य है जो पहले साम्य से आगे की दशा होती है। इस प्रकार जो शोषक होते हैं वे शोषित हो जाते हैं। यही अभावात्मकता की अभावात्मकता है।

'द्वन्द्वात्मकता अध्यात्मवाद के विपरीत, यह मानती है कि आन्तरिक विरोध प्रत्येक वस्तु और प्रकृति के व्यापार में अन्तर्निहित होता है, उसे विरासत में प्राप्त होता है, क्योंकि प्रत्येक के ही अभावात्मक और भावात्मक दोनों ही पक्ष होते हैं। कुछ नष्ट होता रहता है, कुछ नया जन्म लेता रहता है। अर्थात् कुछ मिलता रहता है और कुछ रूप परिवर्त्तन करके नया आकार ग्रहण करता जाता है। इन दोनों में निरन्तर संघर्ष है, पुराने और नये के बीच जो युद्ध है, मरने वाले और पैदा होते हुए के बीच जो लड़ाई है, लुप्त होते हुए और उन्नति करते हुए के बीच जो संघर्षण है, वह विकास के क्रम व्यापार का आंतरिक विषय होता है, अर्थात् परिवर्त्तन में वह उसका भीतरी तथ्य है। मात्रात्मक परिवर्त्तन होते रहते हैं। वे गुणात्मक परिवर्त्तन में बदल जाया करते हैं। वह संघर्ष जिसका हमने ऊपर वर्णन किया है उस रूप परिवर्त्तन

का भी आँतरिक विषय है, जिससे मात्रात्मक परिवर्त्तन गुणात्मक परिवर्त्तन में बदल जाया करते हैं।

स्तालिन ने इस व्याख्या में स्पष्ट किया है कि परिवर्तन स्वतः होता तो है किंतु वह अपने क्रमविकास में निरपेक्ष नहीं हुआ करता, बल्कि अन्यों से सापेक्ष होता है। उसमें एक बार मृत्यु और एक बार जीवन नहीं होता है, यह दोनों एक ही रहते हैं। एक की मृत्यु में से ही दूसरा जन्म लेता है और अपना रूप ग्रहण करता है, विकास करता है। प्रकृति में यह द्वन्द्व सदैव तत्पर दिखाई देता है। और अपनी गति का परिचय देता है। १

इसी परिवर्त्तन को क्रमशः न लाकर राजनीतिक दलों का प्रयत्न यह रहता है कि वे अपने अपने स्वार्थों को लागू करते रहें। जो वर्गीय जीवन के प्रतिपादक हैं वे तो केवल छटपटाहट में हैं, क्योंकि आर्थिक व्यवस्था और उसके मूल के होने वाले उत्पादन के साधनों के बीच का द्वन्द्व उन्हें नष्ट कर देगा। किंतु जो राजनीतिक दल वर्गीय जीवन के विरुद्ध है और वर्गहीन समाज बनाना चाहता है, आगे चलकर श्रमिक वर्ग का अधिनायकत्व स्थापित करके वर्गहीन समाज स्थापित करना चाहता है, वह दल क्या दलीय जीवन के प्रति ऐसा निरपेक्ष होकर रहता है, कि उससे गलतियाँ नहीं होती, या उसमें रहने वाले व्यक्तियों में व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षा ही नहीं रहती?

1. Contrary to metaphysics, dialectices holds that internal contradictions are inherent in all things and phenomena of nature, for they all have their negative and positive sides, a past and a future, something dying away and something developing; and that the struggle between these opposites, the struggle between the old and the new, between that which is dying away and that which is being born, between that which is disappearing and that which is developing, constitutes the internal content of the process of development, the internal content of the transformation of quantitative changes into qualitative changes. (Dialectical & Historical Materialism. J. Stalin. Moscow 1952 pp. 13.)

क्या उस दल का प्रत्येक व्यक्ति प्लेटो का दार्शनिक राजा (Philoso pher King) होता है। मैं विदेशों की तो नहीं जानता, भारतीय राजनीति में ऐसे एक मार्क्स के अनुयायी दल को जानता हूँ, जो कि अपने को ही एकमात्र मार्क्स का उत्तराधिकारी मानता है और निश्चय से कह सकता हूं कि उसको गलती करने की अधिक आदत है, और उसके सदस्य काफ़ी अंश तक बहुमत के नाम पर बुद्धि का विरोध करते हैं और अपने किये अपराधों पर पर्दा डालने का प्रयत्न किया करते हैं। तुर्रा यह है कि ऐसे लोग हिंदी साहित्य पर अंकुश मारना चाहते हैं। मैं तो यह भी नहीं मानता कि दलीय व्यवस्था में कोई व्यक्ति हृदय परिवर्त्तन से स्वतः अपने अधिकार छोड़ सकता है। वह तो तब हो सकता है, जब जनता इतनी जाग्रत हो कि उस प्रकार के लोग हटाये जा सकें। जब मैं इन बुराइयों की ओर इंगित करता हुँ तब यह नहीं भूलता कि इस प्रकार की पार्टियों ने पहले की तुलना में जनता का कितना अधिक लाभ किया है और भौतिक व्यवस्था में कितने महान परिवर्त्तन कर दिये हैं। अगर यह कुछ अहम्मन्य दोष भी हट जायें तो क्या सोने में सुहागा भी न हो जायेगा? क्या हमें इन दोषों के प्रति जागरूक नहीं होना चाहिए?

हमारा सिद्धांतवाद अपने व्यवहार से अलग नहीं है। उनका समन्वय ही वस्तु का सत्य है। जो मानते हैं कि केवल भारत में ऐसा है विदेशों में नहीं, वे यह जानलें कि चीन में गड़बड़ियाँ भी हुई हैं:

कृषि सुधार आंदोलन के दर्मियान लोगों के साथ मारपीट और क़त्ल की घटनाएं कुछ कम नहीं हुई हैं। और ऐसा इसलिए और भी होता है क्योंकि पार्टी के अन्दर गंदगियाँ हैं। ज़मीदार, धनी किसान, अवसरवादी लोग और लुंत सर्वहारा इन मौकों से फ़ायदा उठाकर गड़बड़ पैदा करते हैं जिससे अंधाधुंध मारपीट तथा हत्यायें होती हैं। कुछ ऐसे लोग जान से मारे गये जिन्होंने मृत्युदण्ड पाने योग्य अपराध नहीं किया था। १,

यह वर्णन भी अपने दोषों को छिपाने वाला है जो पार्टी के अन्दर की गंदगी पर ज़ोर नहीं देता। यह कल्पना कर लेता है कि पार्टी तो आदर्श है। उसमें मनुष्य की व्यक्ति परक निर्बलताएं हैं ही नहीं। कहने वाला तो ग़लती

१—चीनी कृषि क्रान्ति की समस्याएं: जेन० पी० शी० पृष्ठ २३

मंजूर करके रह गया, मरने वाला तो जान से गया। मुर्गी तो जान से गई, मुल्ला ने अलोनी मानी। इसका जवाब यह है कि 'कॉमरेड क्रान्ति के दौर की चपेट भी हलचल से भरी होती है उसमें ऐसी भूलें हो ही जाती हैं। तो ऐसे कॉमरेडों को ही उस हलचल में आजाना चाहिए, न कि निरपराधों की हत्या पर गर्व करना चाहिए। मैं यह नहीं कहता कि चीन में कम्युनिस्टों ने बलिदान नहीं दिया। दिया और खूब दिया। परन्तु बलिदान देने वाले को भी इतिहास यह अधिकार नहीं देता कि उसकी गलती दूसरे की हत्या का कारण बन जाये। इसके साथ ही चीन में अतियों की रोकथाम का भी प्रयत्न किया गया है : 'सामंतवादी व्यवस्था मिटाने में इस बात से सावधान रहना चाहिए कि कहीं उन सब बुद्धि जीवियों को न बाहर कर दें जो सामंतवादी व्यवस्था से संबंध रखते हैं। यह जनता के उद्देश्य के लिए हानिकर है।' २

हो सकता है कि जनवाद के विरोधी इस विवेचन को पढ़ कर दाँत निकालने लगें, किंतु उन्हें याद रखना चाहिए कि उनसे तो कहीं भी समझौता नहीं है। यह जो मानव की स्वतंत्रता की लड़ाई है, इसमें कहीं ढुलमिल विश्वासों को स्थान नहीं है। इसमें दलगत जीवन सबसे बड़ा आदर्श नहीं, व्यापक मानव का कल्याण इसका उद्देश्य है। उसे प्राप्त करना सरल तो नहीं किंतु असंभव भी नहीं है। यह गड़बड़ियाँ यह प्रमाणित नहीं करती कि प्रतिक्रियावादियों को स्वतंत्र छोड़ दिया जाये और कहा जाये कि यह तो तभी ठीक हो सकता है जब जनता ही विकास करके अपने आप शिक्षित हो जाये। ऐसे जो व्यक्ति समाज में आर्थिक व्यवस्था का प्रभाव ही नहीं मानते और ग़लत निर्धारणों (Syllogismo) पर अपने तर्क को स्थापित करते हैं स्तालिन ने उनसे स्पष्ट कहा था—

'यह सत्य है, कि मार्क्स ने यह कहा था कि आर्थिक परिस्थितियाँ मनुष्यों की चेतना, उनके आदर्शों का निर्माण करती है, किन्तु यह किसने कहा कि भोजन करना और आर्थिक परिस्थिति एक ही वस्तु हैं ? क्या आप आर्थिक व्यवस्था से जो कि एक शारीरिक कार्य्य है, वह मयुष्यों की आर्थिक व्यवस्था से जो कि एक सामाजिक परिस्थिति है, मूलभूत रूप से अलग है ?

२—वही पृष्ठ २२

×× भोजन करना सामाजिक विचारधारा का निर्माण कैसे कर सकता है ? जो आपने कहा है उस पर विचार करिये। खाना, खाने का तरीका नहीं बदलता ; पुराने ज़माने में लोग खाते थे, पचाते थे, और हम भी अब भी वही करते हैं, किन्तु विचारधारा सदैव बदलती है। प्राचीन, सामंतीय, पूंजीवादी और सर्वहारावादी-विचारधाराएं यह हैं। क्या यह सोचा जा सकता है कि जो नहीं बदलता वह निरंतर बदलने वाले का निर्माण कर सके ?[१]''

रूस ने इसी सिद्धान्त को लेकर अपने देश की जो परंपरा उसे प्राप्त हुई थी, उसी को लेकर, इसकी स्थापना की। यहाँ मैं फिर कहदूँ कि वर्गवाद के विरोधियो ! तुम दुनिया की विवेचना करते हो, तो रूस को भी आँख खोलकर देखो। उसकी महानताएं अनेक हैं, उसने नयी व्यवस्था स्थापित की है, उसने भौतिक जीवन को पहले की तुलना में कहीं अधिक सुखी बनाया है, पहले की तुलना में कहीं अधिक अधिकार जनता को दिये हैं, और अपनी शक्ति को विश्व में महान बनाया है, उसने स्तालिन ग्रेद के युद्ध में अभूतपूर्व वीरता दिखाकर विश्व की रक्षा की है, किन्तु जनता के नाम पर जिस कम्युनिष्ट पार्टी ने शासन किया है उसमें वहाँ व्यक्तिपरक स्वार्थ मौजूद है, और उसने रूसी इतिहास की निरंकुश परम्परा का संस्कार पाने के कारण, वहाँ व्यक्ति की सदिच्छा का मान नहीं किया है और इस अभाव को वह भविष्य के किसी काल्पनिक समय के लिये टालती रही है और इसीलिये उसके नये साहित्य में बाह्य परिवर्त्तन आने पर भी आंतरिक शक्ति का अभाव हो गया है। 'आवारा' जैसी रोमांटिक फ़िल्म के प्रति मॉस्कोवासियों का घोर आकर्षण साहित्य की वैविध्यहीनता से ही उपजी हुई भूख का परिचायक है। उसकी रंगीनी के प्रति मोह वास्तव में भारत के प्रति मोह नहीं था क्योंकि 'आवारा' भारतीय जीवन का यूरोपीय दृष्टिकोण से चित्रण था, भारतीय वैषम्य उसमें देशीय रूप लेकर तो उभर ही नहीं सका था। यही कारण है कि काफ़ी सीमा तक रूसी जीवन नीरस हो गया है और उस नीरसता को समाजवादी यथार्थ (Socialstirealism) के नाम पर छिपाने का प्रयत्न किया जा रहा है। यदि यह अभाव दूर हो जाये तो रूस न जाने

१ अनार्किज़्म और सोशलिज़्म ? जे० स्तालिन : मॉस्को १९५० पृ०४३-४३

कितना महान देश हो जाये। समय ही उसकी बौद्धिक दासता की विरासत को काटकर जनता को उठायेगा जो सच्ची जनवादी संस्कृति को प्रतिष्ठापित करेगी, और जो प्राप्त हो गया है उसकी रक्षा करके आगे उन्नति करेगी।

"मार्क्सवाद-लेनिनवाद को सीखने का मतलब यही है कि विश्व समाज, साहित्य और कला का अध्ययन किया जाये और वह द्वन्द्वात्मक और एतिहासिक भौतिकवाद के दृष्टिकोण से किया जाये। इसका अर्थ यह नहीं कि साहित्य और कला की रचना में इस दर्शन का एक रेखाचित्र भी दे दिया जाये। × × × मार्क्सवाद लेनिनवाद × × सृजनात्मक साहित्य और कला के यथार्थवाद का स्थान नही लेता जैसे कि वह × × फ़िज़िक्स में एटम और एलक्ट्रौन की थ्योरी का स्थान नहीं लेता। सूखे, पोले, सिद्धांत रचनात्मक चेतना को घोंटते हैं; और मार्क्सवाद-लेनिनवाद का विरोध करते है।[१]"

और साहित्य पर यदि किसी दल का अंकुश माना जाये तो कहाँ तक? हम तो केवल यह पूछते हैं कि भारत में, इङ्गलैण्ड में, जर्मनी में, फ्रान्स में और संसार के समस्त प्राचीन देशों में साहित्य पर बोलने के अधिकारी साहित्य के सर्जक माने जाते हैं। इस्लामी देशों में अवश्य इस्लाम को साहित्य से ऊपर माना जाता है। नये जनवादी देशों—रूस और चीन में—साहित्यकारों की आँखें राजनीतिज्ञों की ओर क्यों उठी रहती हैं। क्रान्तियों से पहले जो आवाज़ें उठती थीं और लेखक ही अपने दायित्व को नियोजित करके बोलते थे, वैसा अब क्यों नहीं होता? किस कारण से लेखक चुप रहते है या धीरे बोलते हैं? मैं नहीं जानता। संभवतः उन देशों में जाने वाले असली बात कह सकें। मैं पंडित सुन्दरलाय और श्री जे० सी० कुमारप्पा के कथनों को सम्माननीय समझता हूँ जब कि वे इन देशों की सुव्यवस्था और और शान्तिप्रियता का वर्णन करते हैं, किन्तु वे दोनों ऐसा तब करते हैं जब इनकी तुलना ह्रासप्राय आतंकवादी, अत्याचारी, उपनिवेश-वादी, असाम्यवादी साम्राज्यवादी देशों से करते हैं। क्या तुलनात्मक रूप में अच्छा हो जाना ही सिद्धान्त का प्रतिपालन है? इनका इतना प्रशंसक होकर भी इन दोनों सज्जनों का कम्युनिस्ट न होकर गांधी-

१ प्रोब्लेम्स आफ़ आर्ट एण्ड लिटरेचर, माओत्सेतुंग पृ० ३४–३५

वादी बना रहना प्रमाणित करता है कि वे दोनों अपने विचार तंत्र से मूलतः हटे नहीं हैं, केवल तुलनात्मक अध्ययन करके लौट आये हैं। यदि हम कहें कि ये दोनों व्यक्ति ईमानदार नहीं है तब ही गांधीवादी बने हुए हैं तब फिर हम यह ही कैसे मान लें कि बाकी जो कुछ उन्होंने कहा है वह सब भी ईमानदारी से ही कहा होगा? स्तालिन की मृत्यु के समय रूसी सरकार का रेडियो पर यह बिना हिचकिचाये प्रचार करना कि महान नेता के स्वास्थ्य के लिये गिरजों में भगवान से लोग प्रार्थना कर रहे हैं, बताता है कि वहाँ इतनी द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की शिक्षा भी वास्तव में संकटकालीन सहनशीलता को जन्म नहीं दे सकी है, जो कि वास्तव में संस्कृति का बुनियादी लक्षण है। रूसी क्रान्ति को हुए ३८ वर्ष हो गये। क्रान्ति के २० वर्ष पहले से निरंतर धुंआधार मार्क्सवाद का प्रचार हो रहा था, तभी इतने व्यक्ति इस सिद्धान्त को कर्मठ रूप से मानकर संगठित हुए कि उन्होंने पुरानी व्यवस्था को उखाड़ फेंका। इन बीस वर्षों ने संसार को महान और स्थायी साहित्य दिया, जिसने नये मानव के स्वप्न को जागृत किया। इस प्रकार अट्ठावन और साठ वर्ष के बाद भी जब हम मैलनकोव को अब सुनते हैं कि वह अयोग्य व्यक्ति है तब पार्टी की शिक्षा पर संदेह होता है और भी अधिक संदेह होता है जब उसी अयोग्य व्यक्ति की अयोग्यता से समझौता करके उसे राज्य का उच्च पदाधिकारी बनाकर रखा गया है। क्या यह सचमुच आश्चर्य का विषय नहीं है?

एंगिल्स ने कहा है कि दासता के बिना समाज विकास ही नहीं कर पाता।[1] आज का साम्यवाद अन्ततोगत्वा उसी की देन है। इसी भाँति हम

1. We should never forget that our whole economic, political and intellectual development has as its presupposition a state of things in which slavery was as necessary as it was nuiressally recogniged. In this sense we are entitled to say : without the slauery of antiquity, no modern socialism.

कह सकते हैं कि रूसी साम्यवाद के बिना विश्व साम्यवाद विकास ही नहीं कर पाता। यही एक समझौता है, किन्तु हम यह मानने को तैयार नहीं कि मार्क्सवाद का जो व्यावहारिक रूप रूस में है वह सर्वकालीन और सार्वजनीन है, वह प्रत्येक देश के अनुसार अपनी ही सांस्कृतिक विरासत में से विकसित नहीं होना चाहिये। रूस ने मार्क्सवाद का अस्त्र लेकर ही नयी व्यवस्था स्थापित की है और इसमें वह बहुत अंश तक सफल हुआ है, किन्तु वहाँ जो कुछ हुआ है वह रूसी संस्कृति की परम्परा में हुआ है, इसीलिये उसमें ऐसी बातें रह गई हैं जिनका कि जनता को निरंतर सुधार करना है। भारतीय सहिष्णु वैष्णव सम्प्रदाय का मानववाद वहाँ कहाँ था? भारत को साधारणीकरण का मानवीय सिद्धान्त वहाँ कहाँ था? हमें रूस से शत्रुता नहीं करनी है। वह प्रत्येक अवस्था में जनवाद का गढ़ है, परन्तु उसकी प्रणाली को ज्यों का त्यों लागू नहीं करना है क्योंकि उसके पास न मानववाद की पुरानी विरासत है न साहित्य की ही कोई पुरानी परम्परा है।

सभ्यता के नाश होने पर सम्भवतः बर्बर जातियाँ ही जीवन के संघर्षों को झेल सकें, किन्तु संस्कृति की बुनियाद केवल वाह्य परिस्थितियों पर टिकी नहीं रहतीं, वे उन पर आश्रित होकर, प्रभावित होकर भी उन्हें आश्रय देती हैं और प्रभावित करती हैं। अब हम 'टैबू' २ के युग से आगे निकल आये

(Anti Duhning : F. Engels. Mascow 1947. pp. 270)

1. If the earth were struck by one of Mr. Wells's comets, and if, in consequence, every human being now alive were to lose all the knowledge and habits which he had acquired from proceeding generations (through retaining unchanged all his own powers of invention and memory and habituation), nineteenths of the inhabitants of London or New York would be dead in six months. Graham Walles, Our Social Heritage p. 16.

2. The taboo—the forbidden thing of savage life is

हैं, जब हमारा अज्ञान ही वस्तु को हमारी दृष्टि में पूज्य बना दिया करता था।

हमारा तो साहित्य का आदर्श जन का कल्याण है। वह किसी भी प्रतिबन्ध को कलाकार और जनता के बीच में स्वीकार नहीं करता।

कलाकार और जनता के बीच में पहला व्यवधान प्रयोगवादी डालते हैं जो व्यक्तिवाद को प्रश्रय देते हैं और मनोवैज्ञानिक उलझनों और प्रकृतवाद को घसीट लाते हैं। वे मान की प्रकृति को अरूप बनाने की चेष्टा करके, समाज के यथार्थ को ही झुठलाने का प्रयत्न करते हैं। उनके प्रति हमारी कोई सुहानुभूति नहीं है। माओत्से तुंग ने उनके लिए ठीक ही कहा है कि "हाँ, निश्चय ही, किन्तु (हम) केवल ठोस मानव प्रकृति को (मानते हैं) वर्ग समाज में मानव प्रकृति वर्ग रूप धारण करती है, कोई अरूप मानव प्रकृति नहीं होती जो कि वर्गभेद से ऊपर रहती है।

हम प्रोलतारी की मानव प्रकृति के लिये हैं, जब कि बुर्जुआ वर्ग और टुटपूंजिया वर्ग अपने-अपने वर्ग की मानब प्रकृति की बात करते हैं। भले ही इसे वह इतने शब्दों में कहें नहीं, वे समझते हैं कि उन्हीं की प्रकृति मानव प्रकृति है। × × वर्गमय मानव जाति में सच्चा प्रेम हो ही नहीं सकता, उसका प्रचार अवश्य हुआ है। किन्तु उसको व्यवहार में कोई नहीं ला सका। वह केवल वर्गहीन समाज में ही सच्चा हो सकता है।[१]"

माओ का यह कथन बिल्कुल सत्य है। कि जो लोग मानव प्रकृति के वर्णन के सिलसिले में मानव की सामान्यभूमि को अपने वर्गगत स्वार्थ से रंग कर देखते है और उसी को ठीक कहते हैं, वे जनवाद का विरोध करते हैं।

another thing very elementrary in man's make-up. He had tendencies to fall into habits and establish inhibitions for reasons that he either did not discover or easily forgot. These because fixed and sacred to him, and any departure from them filled him with dread. × × It is not in probable that it was the original veneration for the boar and not an abhorrence of him that led to the prohibition. James Harvey Robinson. The mind in the making. pp. 64—65, 1949.

१ प्रोब्लेम्स आफ़ आर्ट एण्ड लिटरेचर, माओत्सेतुंग पृ० ३०

जनवाद के पक्ष में रहने वाले लेखक और जनवाद के विरोधी लेखक की दृष्टि में आदर्श का भेद होता है। किन्तु जनवाद का विरोधी लेखक भी यदि कलाकार के स्थान पर समाज यथार्थ का प्रतिपादन करता है तब वह कला के उस सत्य के कारण जनवाद का विरोधी नहीं रह जाता, क्योंकि वह अपने आदर्श को अपनी ही समीक्षा से काटकर अन्तर्विरोधों को स्पष्ट करता चलता है। मैंने अन्यत्र स्पष्ट किया है कि यद्यपि राजनीति प्रत्येक लेखक में होती है, किंतु वह राजनीति का मातहत नहीं होता। श्रेष्ठ लेखक में भी राजनीति होती है जैसे शेक्सपियर, बाल्जाक और तालसताय में थी, जैसे प्रेमचन्द में, रवीन्द्र में थी, किन्तु वह उसमें समाप्त नहीं होजाता। वह आगे का मार्ग बताता है; अपने आदर्श के आगे के पथ खोलता है। यदि शेक्सपियर को कहा जाये कि उसमें राजनीति न थी, वरन् वह राजनीति के मातहत था, तो वह सामंतवाद के गौरव गाते हुए भी किस प्रकार बुर्जुआ वर्ग की उठती उन्नति की सहायता कर जाता? यदि बाल्ज़ाक के विषय में यही होता तो वह क्यों दलित कृषक वर्ग की विषमावस्था का चित्रण कर जाता? यदि ताल्स्ताय में यही होता तो वह क्रांति का दर्पण कैसे बन जाता? यदि प्रेमचन्द में यही होता तो वह गाँधीवाद के प्राकारों को तोड़ कर आगे कैसे बढ़ जाता? जब लेखक समाज यथार्थ का त्याग कर के अपने अपने आदर्श का प्रतिपादन करने लगता है तब वही होता है जो हिन्दी में रीतिकालीन साहित्य में हुआ। उसके भी पहले भक्ति जब समाजपक्ष को छोड़कर व्यक्तिपक्ष में सीमित हुई, भारत में यही हुआ था।

……रिनेसाँ युग अर्थात् प्रायः १५ वीं शती के मध्य से लेकर यूरोपीय लोग तो मध्यकालीन अंधेरे युग की मानसिक गुलामी संकीर्णता,—नर्क, स्वर्ग और परलोक के भय से मुक्त हो, इसी लोक और इसी जीवन को वास्तविक समझ इस दुनियाँ की एवं प्रकृति और मनोविज्ञान की खोज में जुट गये,—किंतु पूर्व अपनी धार्मिक, सामाजिक, संकीर्णता में जहां था वहीं जमा रहा और अपनी आलस्य की नींद में सोता रहा। पूर्व में भी १५ वीं शती में कुछ पुनर्जागरण हुआ अवश्य किंतु वह केवल सीमित धार्मिक साहित्यिक क्षेत्र में।[१]

१ मानव की कहानी रामेश्वर गुप्ता भाग २ पृ० ७७७

इसका कारण तो स्पष्ट ही है कि यूरोप की अवस्था पर नये उत्पादन के साधनों का प्रभाव पड़ने लगा था, जिसका कि भारत में अभाव था। भारतीय जीवन का जातिवाद उसकी अपनी विशेषता थी। यह भारत के इतिहास की अपनी गति थी जिसने अपना मार्ग संसार के अन्य देशों से अलग ही तैयार किया था। जैसा कि माओ ने कहा कि प्राचीनकाल में सिद्धान्त तो बहुत बने परन्तु व्यवहार में वे नहीं आ सके। आँशिक रूप में भारत में यही हुआ, यद्यपि सिद्धाँत दिन प्रति दिन अपनी शक्ति दिखाता गया।

मध्यकाल में भारत में जो कुछ परिवर्त्तन हुआ उससे यहां धार्मिक चेतना को केवल एक नया भाव आधार मिल गया, किंतु तत्कालीन रूढ़ विचारधारा में कोई क्राँतिकारी उलट फेर नहीं हुआ। × × इन भक्त संत कवियों का कार्य्यक्षेत्र मुख्यतः धार्मिक था। प्रायः अन्तर्मानस एवं व्यक्तिगत आचरण तक सीमित, वाह्यलेख, प्रकृति और राजनैतिक चेतना से सर्वथा असंबद्ध। इन भक्त, संत कवियों के अतिरिक्त और कोई लोकनायक भी ऐसा नहीं हुआ जो उस लोक मानस को जो संकीर्ण, धार्मिक और रूढ सामाजिक मान्यताओं तक ही सीमित तथा वाह्य प्रकृति अथवा विज्ञान और राजनैतिकता की ओर सचेष्ट करता।२

इसके मूल में जहाँ एक ओर समाज की व्यवस्था थी दूसरी ओर दर्शन का ऊपरी ढाँचा (super structure) भी था।

दार्शनिक ढाँचा बहुत पुराना था। वह कब प्रारंभ हुआ उसकी स्पष्ट तिथि तो नहीं दी जा सकती। किस जाति ने उसके बीज दिये, यह भी निश्चित नहीं है। एक बात सत्य है कि भारतीय दर्शन अपनी जड़ में अभावात्मक रहा है। मैं कह चुका हूँ कि एक पक्ष में यह अभावात्मकता भारतीय दुखवाद को प्रश्रय देती रही है, और दूसरी ओर इसने शक्ति भी दी है।

आत्मा को इतनी पूर्णता से जो प्रस्तुत करने का प्रयत्न है वह समाज की व्यवस्था की व्याख्या करने का ही प्रयत्न था। प्राचीन लोग पूर्ण सहानुभूति और ईमानदारी से समाज की विषमता के कारण जानने का प्रयत्न करते थे। आत्मा का विषय इसीलिये इतने विस्तृत रूप से प्रचलित हुआ क्योंकि उसने

---

२ वही पृ० ७७८-७६

व्यक्ति के कार्य्य-व्यापार पर सब कुछ निहित कर देने का प्रयत्न किया। यद्यपि विज्ञान आत्मा की सत्ता को प्रमाणित नहीं कर पाया है, किन्तु प्राचीन लोगों ने प्रायः सभी देशों में आत्मा की सत्ता को स्वीकार किया था।

भारतीय दर्शन में एक और नवीन विचार है। यह है चार अवस्थाओं का वर्णन : जाग्रतावस्था, स्वप्नावस्था, सुषुप्ति की अवस्था और मृत्यु की अवस्था। पहली अवस्था में आत्मा देखता रहता है और मन और इन्द्रियों के द्वारा कार्य्य कराता रहता है। दूसरी अवस्था में इन्द्रियाँ काम नहीं करतीं, किन्तु मन जागता है और आत्मा उससे मिलकर शरीर की नाड़ियों में घूमता है और पुरानी वासनाओं के अवशेषों से स्वप्नों को बनते देखता है। तीसरी अवस्था में आत्मा मन और इन्द्रिय से अलग हो जाता है और यह वह समय है जब मनुष्य स्वप्न नहीं देखता। आत्मा ब्रह्म से मिल जाता है, पर जागने पर अपरिवर्त्तित रूप में लौट आता है। चौथी अवस्था में जब आत्मा सूक्ष्म शरीर में चला जाता है, वह हृदय में से सिर की नाड़ी के द्वारा निकल जाता है, अथवा कहना चाहिये कि वह शरीर की सैकड़ों नाड़ियों में से चला जाता है और तब अगले जीवन का, अपने गुण, योग्यता और ज्ञानानुसार पथ पकड़ता है।[1]

आत्मा के चारों अवस्थाओं में रहने में कोई सामाजिक पक्ष है या नहीं यह तो दर्शन की गहरायों में जाने वाले ही बता सकेंगे। मेरी समझ में यह विवेचन यहीं समाप्त करने योग्य है। क्योंकि अवस्थाओं के वर्णन में सामाजिक पक्ष इतना नहीं जितना कि तत्कालीन विचारकों का विज्ञान को खोजने का प्रयत्न है। इसको यद्यपि देखने से लगता है कि इसका प्रभाव कोई विशेष नहीं पड़ा, किन्तु वास्तव में यह व्याख्या पुनर्जन्मवाद की भूमि है, जिसने अन्ततोगत्वा समाज व्यवस्था पर प्रभाव डाला है।

किस प्रकार सारे चिंतन को एक सूत्र में पिरो देने के लिये वेद को ही सबका मूल बनाया गया, पुरोहितवर्ग के स्वार्थ से इसे जोड़ा जा सकता है।

वैशेषिक दर्शन में ईश्वर को न मानने पर भी कहा है—

---

१. इंडियन फ़िलोसॉफी, मैक्समूलर भाग २, १९५२, पृ० ९१ कलकत्ता।

तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम् ।

(कणादः वैशेषिक सूत्र, ३)

यह तत् ईश्वर भले ही न हो, किन्तु उसके द्वारा वेद को ही प्रमाण माना गया है। वेद को किसने कहा, ईश्वर ने। पहले तत् का अर्थ ईश्वर नहीं कहा गया किन्तु—

ईश्वर स्या प्रक्रान्तत्वेऽपि प्रसिद्धार्थकेन तच्छब्देन परामर्शो भवत्येव तथाच नित्य सर्वज्ञनिर्दोष पुरुष प्रणीतत्वात् वेदस्य प्रामाण्यमवश्यमेवाम्यु प्रेयमित्यर्थः ॥

यह कहकर स्वीकार करने की चेष्टा की गई है कि प्रमाण में वेद को ही माना गया, कारण यही था कि वह अनन्त, सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ और ज्ञान के मूलरूप द्वारा कहा गया।

इस रूप में हम देखते हैं कि ऊपर से जो केवल शास्त्रीय विवाद सा प्रतीत होता है, वह मूलतः समाज व्यवस्था से जुड़ा रहता है। भारतीय परं-परा में जो मानववाद विकास करता रहा है उसने इन सब पक्षों से अपना सम्बन्ध स्थापित किया है क्योंकि इसके बिना युग सीमा में और कोई चारा भी नहीं था।

सांख्य में भी ईश्वर के विषय में संदिग्ध विचार प्राप्त होते हैं। ईश्वर का विरोध क्यों हुआ? उपनिषद्काल के बाद ही जो षड्दर्शन मिलते हैं उनमें पुरानों में ईश्वर विरोध और परवर्त्तियों में ईश्वर-प्रतिपादन क्यों मिलता है? क्योंकि जिस स्थापित मर्यादा का बर्बर दास प्रथा के अन्त में नाश हुआ उसमें से मरते हुए में से, जन्म लेते हुए ने नया विकास किया। पुरानी आस्था टूट रही थी! सामन्तीय जीवन का विकास नये प्रतिमान चाहता था और उसने जो पौरुष को स्थापित किया उसमें पुराने मानदण्डों को काटने का प्रयत्न किया। हो सकता है कि भारतीय विचारक मेरी बात में अति समझें क्योंकि यह उनके 'शाश्वतवाद' के विश्वास पर ही प्रहार हो सकता है। किंतु मैं उनसे यही कह सकता हूँ कि हम विवेचन ध्वंसात्मक दृष्टिकोण से नहीं करते। हमारा काम विश्लेषण है और वह मनुष्य के लिये है। कोई विषय

अपने आप में इतना पूर्ण नहीं है कि वह अन्य विषयों से बिल्कुल अलग करके देखा जाये, क्योंकि जब तक हम सापेक्ष प्रतिमान नहीं देखते तब तक हम वास्तविकता का ज्ञान प्राप्त नहीं करते।

मीमांसा में प्रारंभ में ईश्वर का घोर विरोध तो प्राप्त होता है किंतु कर्मकांड को स्वीकार किया गया है। यह तो स्पष्ट कर देता है कि दर्शन आध्यात्मिक क्षेत्र में प्रकारात्मक होकर भी अपनी सामाजिक व्यवस्था के प्रति उसके ठीक विपरीत था।

मीमांसा का संबंध वैदिक कर्मकाण्ड से है। वह कर्मकाण्ड को उचित मानने का प्रयत्न है। मीमांसा आत्मन् को मानती है। वाह्य विश्व और कर्म के सिद्धांत को भी मानती है। मीमांसा कई देवताओं को मानती है। वह एक परमात्मा को नहीं मानती, जो कि सबकी सृष्टि करता है। वह वेदों को सर्वोच्च और सत्य मानती है। वह उन्है अनंत और अचूक मानती है। वह न्याय वैषेशिकों की भांति वेद को ईश्वर-रचित नहीं मानती। मीमांसा को कर्म मीमांसा भी कहते हैं। मीमांसा के अनुसार ज्ञान स्वतः प्रामाण्य है।१

सामंतीय व्यवस्था में ज्ञान को स्वतः प्रामाण्य मानकर भी कालांतर में उसे ऐसा नहीं माना गया, क्योंकि जिस उदय काल में प्राचीन व्यवस्था टूटने पर सामंतीय जीवन में नयी आशाएं प्रतिपादित की थीं, वे धीरे धीरे निराशा में परिणित होने लगीं क्यों अभावात्मकता की अभावात्मकता ने समाज में अपना प्रभाव दिखाया था। किंतु यद्यपि यह समझौता व्यवस्था के मूलरूप के अन्तर्गत ही था पुराना दर्शन कालांतर में संदेहवाद को प्रश्रय देता रहा।

प्रभाकर के अनुसार परमात्मा वेदों का रचियता नहीं है। जो कि वाह्य हैं, अपने को प्रगट करती हैं। व्यक्ति वेद के द्वारा ही धर्म को जान सकता है। परमात्मा संकेत का रचियता नहीं है।

परमात्मा संसार का बनाने और मिटाने वाला नहीं है। वह व्यक्तियों की आत्माओं के अच्छे बुरे की देखभाल नहीं करता। वह न इनाम देता है न दण्ड। वह वेदों का निर्माता नहीं है। ईश्वर की स्वीकृति तो व्यर्थ है।

१—इंट्रोडक्शन टु इंडियन फिलौसफ़ी जदुनाथ सिन्हा, १६४६ पृष्ठ १८७ १८६

...ईश्वर यदि सृष्टि का बनाने वाला है तो उसके शरीर होना चाहिए। वह बिना शरीर के बनाने की इच्छा नहीं कर सकता। क्योंकि इच्छा तो तभी जन्म लेती है जब आत्मा मन और शरीर के संबंध में आती है। अगर परमात्मा के शरीर हैं, तो वह अपने आप तो उसे बना नहीं सकता था। अतः हमें उसके लिए एक निर्माता की कल्पना करनी पड़ेगी और इस प्रकार की कल्पना का अन्त नहीं होगा। न्याय वैशेषिक परमात्मा की इच्छा से ही सब कुछ का होना मानते हैं, तभी कणादि काम करते हैं।

सृष्टि से पहले प्राणी ही नहीं थे, तब परमात्मा में किसके प्रति अनुकम्पा हुई? अगर उसे सृष्टि रचने की अनुकम्पा हुई तो वह अपने वैसे ही आनंदमय प्राणी बनाता। २

विद्वान लोग दर्शनों को खंड खंड करके देखते हैं अतः उन्होंने अब तक इन दर्शनों की समाज परकता का अध्ययन नहीं किया। उनकी तुलनात्मकता केवल उनके भेदों की ओर रही है। उन्होंने उनके वैचित्र्य को देखा है, जिससे वे उनका साधारणीय करण नहीं कर सके हैं। वे पूर्ण कहते हुए जब तक वस्तु के प्रतिपक्ष को नहीं देखते तब तक प्रत्येक पूर्ण की अपूर्णता का कभी भी ज्ञान नहीं हो सकेगा। सांख्य कारिकाकार कहता है—

वत्स विवृद्धिनिमित्तं सीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य
पुरुष विमोक्ष निमित्तं तथा प्रवृतिः प्रधानस्य ॥५७॥
औरसुक्य निवृत्त्यर्थं यथा क्रियासु प्रवर्तते लोकः।
पुरुषस्य विमोक्षर्थं प्रवर्त्तते तद्वद्व्यक्तम् ॥५८॥
[सांख्यकारिका : ईश्वर कृष्ण]

अर्थात् जैसे जड़ होने पर भी गाय के थन से दुग्ध की बछड़े के जीने तथा बढ़ने के लिए ही स्वयं प्रवृत्ति होती है। उसी तरह जड़ प्रकृति की भी हर एक पुरुष के संसार बंधन से छुड़ाने के लिए भी स्वयं प्रवृत्ति होती है।

यहाँ ईश्वर को मानना आवश्यक नहीं है। क्योंकि परिपूर्ण कामना वाला ईश्वर बिना प्रयोजन के सृष्टि करने में प्रकृति को क्यों प्रवृत्त करेगा। सृष्टि के पहिले जीवों को शरीरादिक न होने से दुःख न हो सके

२—वही पृष्ठ २०७-२०८-२०९.

उसके हटाने के लिए ईश्वर करुणा से सृष्टि कराने में प्रवृत्त होता है। यह भी नहीं कहा जा सकता। परिपूर्ण काम होने से उसका कोई स्वार्थ भी सृष्टि करने में प्रयोजक नहीं हो सकता इसलिए स्वयं जड़ भी प्रकृति पुरुषार्थ रूप प्रयोजन से क्षीरादिकों के समान प्रवृत्त होती है, यही मानना उचित है। १

जैसे अपनी नीति खाने की उत्कट इच्छा को दूर करने के लिए मनुष्य रसोई बनाने में प्रवृत्त होता है, वैसे प्रकृति भी मुझे पुरुषार्थ करना है ऐसी इच्छा होने पर उसके निवृत्त होने के लिए पुरुष के मुक्ति रूप फल के लिए प्रवृत्त होती है क्योंकि उसके सिद्धि के बिना उन इच्छा की निवृत्ति नहीं हो सकती। इसलिए केवल परार्थ ही प्रकृति की प्रवृत्ति होती है।

दर्शन ने साहित्य में कब अपनी अभिव्यक्ति नहीं की? इस प्रश्न का उत्तर है कि सदैव की है। प्रत्येक नये मानदण्ड के आने पर उसकी व्याख्या साहित्य में भी हुई है। शंकराचार्य्य का काव्य ऐसा ही व्याख्यात्मक है, किंतु उसमें जीवन का दर्शन नहीं दर्शन का दर्शन है। सांख्य ने अपने समय में जिस विद्रोह का प्रदर्शन किया था वह साहित्य में भी उतरा था और यद्यपि बाल्मीकि रामायण में ईश्वरवाद की स्थापना हुई थी, फिर भी उसके चरित्र चित्रण में हुई पौरुष की महत्ता में इस सांख्य का ही प्रभाव था।

दर्शन ने विज्ञान का रास्ता प्राचीन काल में भी देखा था क्योंकि व्याख्यात्मकता का आधार वस्तु स्थिति का वाह्य पक्ष लेकर ही चलता था, जिससे फिर उसके सूक्ष्म रूप का परिचय देने की कोशिश की जाती थी। हमारे साहित्य पर इसने तो काफ़ी प्रभाव डाला है। सिद्धों के बाद का नाथ साहित्य तो चमत्कारवाद को खूब प्रश्रय देता था। रसेश्वर दर्शन ऐसा ही था, जिसने पुराणतत्त्व को भी आत्मसात् किया था। उसने एक ओर तत्त्व मीमांसा की, तो दूसरी ओर साहित्य को भी उसकी देन दी और इस प्रकार उभय पक्ष में तत्कालीन विज्ञान का परिचय दिया। कहा ही है कि—

अभ्रकस्तव बीजन्तु मम बीजन्तु पारदः
अनयौर्मेलनं देवि मृत्यु दारिद्रयनाशनम्। इति
देवाः केचिन्महेशा द्या देत्याः कंसपुरः सुराः

१—हरिदास ग्रंथमाला १२०. सांख्य कारिका, १९५३, पृष्ठ ३१

मुनयो बालखिल्माद्या नृपाः सोमेश्वरादयः ।
गोविन्द भगवत्पादाचार्य्यो गोविंदं नायकः
चर्वटि : कपिलो व्यालि : कापालि : कन्दलायनः ।

अभ्रक पार्वती का बीज हैं और पारद शिव का। दोनों का मिलन मृत्यु दारिद्रय को दूर करता है। महेशादि कोई कोई देवगण, कंसादि दैत्यगण, बालखिल्लादि ऋषिगण, सोमेश्वरादि गजागण, गोविन्द भगवत पादाचार्य, गोविन्द नायक, चर्व्वटि, कपिल, व्यालि, कापालि कन्दलायन आदि (इसी को सिद्ध करके रसमय शरीर परिग्रह कर के विचरण करते हैं)

(रसेश्वर दर्शनम् सर्वदर्शन संग्रह :—मध्वाचार्य्य)

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि दर्शन, समाज व्यवस्था और सृष्टि व्साख्या के प्रयत्न साहित्य में प्राचीन काल में भी होते रहे हैं। किंतु क्या वे साहित्य का प्राण बन सके हैं? वे समाज का यथार्थ चित्रण करते रहे है या अपनी आदर्शभूमि को साफ़ करते रहे हैं, अर्थात् अपने आदर्श को अपने अपने कल्पित सत्य द्वारा प्रतिपादित करते रहे हैं। इस प्रश्न का उत्तर देना कठिन नहीं है। वर्त्तमान काल में भी हमारा एक जीवन दर्शन है। मैं मानता हूँ कि पुराने दर्शन केवल व्याख्यात्मक थे, और हमारा नवीन जीवन दर्शन एक, अन्त नहीं, माध्यम है, और व्यवहार से तादात्म्य कर सकने पर ही उसका असली महत्व है, परन्तु क्या वह फिर भी दर्शन नहीं है? क्या उसके मूल में फिर भी व्याख्या ही नहीं है? दर्शन तो व्याख्या ही है। साहित्य केवल व्याख्या नहीं है। साहित्य मर्म को छू लेता है, दर्शन नहीं छू पाता। मैं ऊपर कह चुका हूँ नया जीवन दर्शन अभी भारत में अपना व्यापक प्रभाव नहीं डाल सका है। इसका कारण यही है कि वह साहित्य पर लादा गया है। वह जिस प्रकार साहित्य के वृक्ष में कोंपलों की भाँति भीतर से फूट रहा है उस पर कोई ध्यान नहीं दिया गया है, क्योंकि आलोचकों की दृष्टि द्वैत-परक रही है। उन्होंने अपने दलीय चिंतन को जन समाज के वास्तविक चिंतन से अलग कर लिया है। वे अपने को बहुत ऊँचा समझते हैं और जन समाज उनकी राय में अशिक्षित मूर्ख है, उनकी अपनी राय में वे शिक्षक हैं और जन-समाज को केवल उनसे सीखना है, वैसे नारे लगाते समय वे सबसे

अधिक गला फाड़ कर चिल्लाते हैं कि 'जनता से सीखो, जनता से सीखो।' ऐसे व्यक्तियों को जानना चाहिये कि द्वैत परकता का यह सिद्धान्त भी भारत में नवीन नहीं है, यह शंकराचार्य्य के व्यवहार और चिंतन में भी प्राप्त होता है, अन्य तंत्रों का तो कहना ही क्या।

श्री विद्या की उपासना के साथ आचार्य शंकर का बड़ा घनिष्ठ संबंध था। इसका परिचय हमें केवल तांत्रिक ग्रन्थों से ही नहीं मिलता, प्रत्युत आचार्य्य के द्वारा स्थापित पीठों की पूजा पद्धति के निरीक्षण से भी चलता है। आचार्य्य के विशिष्ट मतों में 'श्रीमंत्र' है जिसकी पूजा मठाधीश के कार्यों में एक विशेष स्थान रखती है। शंकर के द्वारा विरचित ग्रन्थों से भी इसकी पर्याप्त पुष्टि होती है। सौन्दर्य लहरी तथा प्रपञ्चसार ऐसे ही तांत्रिक ग्रंथ हैं जिनकी रचना के साथ आचार्य का नाम संश्लिष्ट है। ये सब त्रिपुरा-तंत्र के ग्रन्थ हैं। इतना ही नहीं, आचार्य ने जिस 'ललिता त्रिशती' का पाण्डित्य पूर्ण भाष्य लिखा है वह भी इसी तन्त्र से संबद्ध है।१

परन्तु उन्होंने अपने तांत्रिक रूप को भाष्यों के पृष्ठों में अभिव्यक्त नहीं होने दिया है। इसमें एक रहस्य है। भाष्य की रचना तो सर्व साधारण के लिये की गई थी, इसलिये उसमें ज्ञान की महत्ता का प्रतिपादन है। उपासना नितान्त अन्तरंग वस्तु है। ज्ञान के लिये उतने विशिष्ट कोटि के अधिकारी की आवश्यकता नहीं होती जितनी तांत्रिक उपासना के लिये। उपयुक्त अधिकारी के मिलने पर ही उस उपासना का रहस्य किसी को समझाया जा सकता है। यही कारण है कि शङ्कर ने इस विषय को अपने भाष्यों में नहीं आने दिया।२

अन्त में मैं कहना चाहता हूँ कि साहित्य को दर्शन से न अलग किया जा सकता है, न दर्शन से उसे लाद देना ही उचित है। प्रश्न मूलतः वही है कि लेखक समीक्षा को आधार बनाकर चलता है या आदर्श को? समीक्षा-समाज

१ श्री शंकराचार्य बलदेव उपाध्याय १९५० पृ० १५९

२ वही पृ० २८६

के यथार्थ चित्रण का सत्य आदर्श है अपने कल्पित सत्य का चित्रण ! इन दोनों में परस्पर अन्योन्याश्रय का सम्बन्ध है, परन्तु जो आदर्श को समीक्षा पर लाद देता है, वह साहित्य को नहीं दर्शन को जन्म देता है, अतः वह कला के क्षेत्र में उत्कृष्ट रचना नहीं है, उसे निकृष्ट ही कहा जा सकता है।

—९—

द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी विश्लेषण समाज के वर्ग संबन्धों का विवेचन करता है, वह व्यक्ति के विषय में भविष्यवाणी नहीं कर सकता। वह यह बात बता सकता है कि अमुक परिस्थिति में अमुक वर्ग किस प्रकार के स्वार्थों में रहता है। वह पहले से नहीं बता सकता कि वह वर्ग किस प्रकार अपने स्वार्थ की रक्षा करेगा। किन्तु वह यह बता सकता है कि वर्गों का स्वार्थ जब टकराता है तब आर्थिक परिस्थिति किस प्रकार वर्ग के मनोविज्ञान पर प्रभाव डालती है। यही वह व्यक्ति के विषय में भी करता है। जब हम इस दंभ में आ जाते हैं कि हम 'आम' की जगह 'खास' की भविष्यवाणी करते हैं तब हम धोखा खा जाते हैं। यह कहा जा सकता है कि अमुक जनसंगठन से साम्राज्यवाद चौंककर अपनी रक्षा का प्रयत्न करेगा, किंतु हम नहीं बता सकते कि वह कौन से दाँव पेच अख्तियार करेगा। मार्क्स के अनुसार बुर्जुआ वर्ग को सामंतवाद का नाश करना चाहिये था। किन्तु अपने स्वार्थ के लिये इंग्लैण्ड के बुर्जुआ वर्ग ने भारतीय सामंतशाही से गठबंधन कर लिया और मार्क्स की बात को विफल सिद्ध किया। हम यह बता सकते हैं कि आर्थिक विषमता अमुक परिस्थिति में पूंजीवादी देशों में संकट उपस्थिति करेगी, किन्तु यह नहीं कह सकते कि वह संकट किस रूप में परिलक्षित होगा।

इस सत्य को न समझ कर जो चंद लोगों पर औलिया बनने का भूत सवार है, उसके मूल में सिर्फ़ यह है कि वे अपने को त्रिकालज्ञ समझकर भविष्यवाणियाँ किया करते हैं और ग़लत साबित हुआ करते हैं और फिर भी

लज्जित नहीं होते। ऐसे ही लोगों से यह आशा है कि वे औलियापन में हमारे विवेचन का मूल्यांकन करते समय निरुत्तर होने पर खीझकर यह प्रमाणित करने की चेष्टा करेंगे कि हमारे विश्लेषण के मूल में व्यक्तिवाद है। क्योंकि हम उनके वर्ग की बुद्धि की बुनियाद को जानते हैं, हम यह बता सकते हैं कि उनके ऊपर संकट उपस्थित होने पर वे किस प्रकार अपने वर्ग को बचाने का प्रयत्न करेंगे।

खैर! वे तो ह्रासशील हैं। उन पर तो ध्यान देने की आवश्यकता नहीं है, किन्तु जो गम्भीर व्यक्ति है उनके सामने व्यक्तिवाद को स्पष्ट कर देना भी आवश्यक है।

पहले हमें देखना चाहिये कि व्यक्तिवाद क्या है? यदि हम इसे जान लेंगे तो समाजवाद का व्यक्ति से सम्बन्ध भी साफ़ हो जायेगा।

आदिम समाज में व्यक्ति अपने को अलग नहीं कर पाता था। उसकी अभिव्यक्ति 'हम' में थी। वह यूथ में रहता था। वनौकस जीवन में उसका काम सम्मिलित रूप से होता था उस समय पीड़ा की अनुभूति या शारीरिक सुख की अनुभूति केवल शरीर पर अवलंबित होती, तो उसको व्यक्ति रूप में अनुभव किया जाता था।

जब मातृसत्ताक समाज समाप्त हुआ और आदिम शिकारी जीवन से बाहर आये हुए मनुष्य को कबीलों की लड़ाइयों में लगना पड़ा, तब दासता के बीज प्रारम्भ हुए और व्यक्ति के बल पर अधिक ज़ोर दिया जाने लगा। वीरपूजा की भावना ने व्यक्ति के अहं को बढ़ाया। उस समय हर एक अपनी अलग महत्त्वाकांक्षा रखने लगा। बर्बर युग अर्थात् दास प्रथा के युग में समाज में विषमता उत्पन्न हुई और व्यक्ति और समाज के रूप अलग अलग विभेदीकरण को प्राप्त हो गये। इस समय व्यक्ति पर उसकी व्यवस्था हावी होगई।

कुछ लोगों का मत है कि बनौकस जीवन में भी मनुष्य काहिल था। काहिल था अर्थात् वह काम नहीं करना चाहता था। जीवित रहने भर को काम करने की लालसा ने उसे इस ओर प्रेरित किया कि वह अकेला अकेला न रहे, वरन् समाज का प्राणी बनकर रहे। इस प्रकार अपने ही लाभ के लिये

जो उसे अपनी मूल स्वतंत्रता से हाथ धोना पड़ा, उसके भीतर एक द्वन्द्व पैदा हो गया और वही उसके व्यक्तिवाद का मूल बना।

मेरी समझ में यह एक यांत्रिक दृष्टिकोण है। इसमें समाजपरकता का विरोध करने के लिये यह कल्पना की गई है कि व्यक्ति केवल जीवित रहना चाहता था, जब कि मनुष्य का इतिहास यह बताता है कि मनुष्य ने केवल जीवित बने रहने को अपना चरमोद्देश्य कभी नहीं बताया। उसने पशु की भाँति प्रकृति को जैसा पाया, वैसी ही अवस्था में जीवित रहना स्वीकार नहीं किया। वह निरंतर इस प्रकृति पर विजयी होने की कामना करता रहा है और उसकी जिजीविषा का एक संबल उसकी महत्त्वाकांक्षा में ही पलता रहा है। वह जिन बन्धनों में अपनी आसक्ति रखता है, जिनके सहारे जीवित रहना चाहता है, उन्हें केवल उदरपूर्त्ति का माध्यम समझकर अपना चरम-लक्ष्य नहीं बना लेता।

इस प्रकार का दृष्टिकोण रखकर जो पात्रों का वर्णन करते हैं वे ही विकृत या विचित्र पात्रों की सृष्टि करते हैं। उनके पात्र न हँसते हैं, न रोते हैं। वे तो भयभीत करते हैं और उनसे भावानुभूति नहीं जागती। मनुष्य अपने जीवन में सब परिस्थितियों में हँसता और रोता है। उसके सुख दुख उसे अपने आप में सीमित नहीं कर देते, बाहर ले जाकर बिठाते हैं और उसके सुख दुख दूसरों से अपना संबंध रखने के कारण ही उत्पन्न होते हैं।

तो हम यही कह सकते हैं कि व्यक्ति ने समाज में जब विषमता पाई और उसे अपने सुख दुख के प्रति सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार नहीं मिला तभी वह अपने को समाज से अलग करके देखने लगा।

इस देखने के प्रयत्न में उसने सारी सृष्टि के रहस्य, समाज की व्यवस्था, नैतिक मानदण्ड, साहित्य तथा दर्शन को अपने रंग में रँगा।

जब वर्बर दास प्रथा समाप्त हुई तब व्यक्ति ने फिर अपने को पहले की तुलना में स्वतंत्र पाया, क्योंकि वह पहले के शोषण की तुलना में कम शोषण के समाज में आ गया था। इस युग में व्यक्ति को समान माना गया, चाहे उसे समाज व्यवहार में वही स्थान नहीं मिला। किन्तु यह मान लिया गया कि मनुष्य की आकृति धारण करने वाले रूप समान रूप से सुख दुख और

लज्जित नहीं होते। ऐसे ही लोगों से यह आशा है कि वे औलियापन में हमारे विवेचन का मूल्यांकन करते समय निरुत्तर होने पर खीझकर यह प्रमाणित करने की चेष्टा करेंगे कि हमारे विश्लेषण के मूल में व्यक्तिवाद है। क्योंकि हम उनके वर्ग की बुद्धि की बुनियाद को जानते हैं, हम यह बता सकते हैं कि उनके ऊपर संकट उपस्थित होने पर वे किस प्रकार अपने वर्ग को बचाने का प्रयत्न करेंगे।

खैर! वे तो ह्रासशील हैं। उन पर तो ध्यान देने की आवश्यकता नहीं है, किन्तु जो गम्भीर व्यक्ति हैं उनके सामने व्यक्तिवाद को स्पष्ट कर देना भी आवश्यक है।

पहले हमें देखना चाहिये कि व्यक्तिवाद क्या है? यदि हम इसे जान लेंगे तो समाजवाद का व्यक्ति से सम्बन्ध भी साफ़ हो जायेगा।

आदिम समाज में व्यक्ति अपने को अलग नहीं कर पाता था। उसकी अभिव्यक्ति 'हम' में थी। वह यूथ में रहता था। वनौकस जीवन में उसका काम सम्मिलित रूप से होता था उस समय पीड़ा की अनुभूति या शारीरिक सुख की अनुभूति केवल शरीर पर अवलंबित होती, तो उसको व्यक्ति रूप में अनुभव किया जाता था।

जब मातृसत्ताक समाज समाप्त हुआ और आदिम शिकारी जीवन से वाहर आये हुए मनुष्य को कबीलों की लड़ाइयों में लगना पड़ा, तब दासता के बीज प्रारम्भ हुए और व्यक्ति के बल पर अधिक ज़ोर दिया जाने लगा। वीरपूजा की भावना ने व्यक्ति के अहं को बढ़ाया। उस समय हर एक अपनी अलग महत्त्वाकांक्षा रखने लगा। बर्बर युग अर्थात् दास प्रथा के युग में समाज में विषमता उत्पन्न हुई और व्यक्ति और समाज के रूप अलग अलग विभेदीकरण को प्राप्त हो गये। इस समय व्यक्ति पर उसकी व्यवस्था हावी होगई।

कुछ लोगों का मत है कि बनौकस जीवन में भी मनुष्य काहिल था। काहिल था अर्थात् वह काम नहीं करना चाहता था। जीवित रहने भर को काम करने की लालसा ने उसे इस ओर प्रेरित किया कि वह अकेला अकेला न रहे, वरन् समाज का प्राणी बनकर रहे। इस प्रकार अपने ही लाभ के लिये

जो उसे अपनी मूल स्वतंत्रता से हाथ धोना पड़ा, उसके भीतर एक द्वन्द्व पैदा हो गया और वही उसके व्यक्तिवाद का मूल बना।

मेरी समझ में यह एक यांत्रिक दृष्टिकोण है। इसमें समाजपरकता का विरोध करने के लिये यह कल्पना की गई है कि व्यक्ति केवल जीवित रहना चाहता था, जब कि मनुष्य का इतिहास यह बताता है कि मनुष्य ने केवल जीवित बने रहने को अपना चरमोद्देश्य कभी नहीं बताया। उसने पशु की भाँति प्रकृति को जैसा पाया, वैसी ही अवस्था में जीवित रहना स्वीकार नहीं किया। वह निरंतर इस प्रकृति पर विजयी होने की कामना करता रहा है और उसकी जिजीविषा का एक संबल उसकी महत्त्वाकांक्षा में ही पलता रहा है। वह जिन बन्धनों में अपनी आसक्ति रखता है, जिनके सहारे जीवित रहना चाहता है, उन्हें केवल उदरपूर्त्ति का माध्यम समझकर अपना चरम-लक्ष्य नहीं बना लेता।

इस प्रकार का दृष्टिकोण रखकर जो पात्रों का वर्णन करते हैं वे ही विकृत या विचित्र पात्रों की सृष्टि करते हैं। उनके पात्र न हँसते हैं, न रोते हैं। वे तो भयभीत करते हैं और उनसे भावानुभूति नहीं जागती। मनुष्य अपने जीवन में सब परिस्थितियों में हँसता और रोता है। उसके सुख दुख उसे अपने आप में सीमित नहीं कर देते, बाहर ले जाकर बिठाते हैं और उसके सुख दुख दूसरों से अपना संबंध रखने के कारण ही उत्पन्न होते हैं।

तो हम यही कह सकते हैं कि व्यक्ति ने समाज में जब विषमता पाई और उसे अपने सुख दुख के प्रति सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार नहीं मिला तभी वह अपने को समाज से अलग करके देखने लगा।

इस देखने के प्रयत्न में उसने सारी सृष्टि के रहस्य, समाज की व्यवस्था, नैतिक मानदण्ड, साहित्य तथा दर्शन को अपने रंग में रँगा।

जब वर्बर दास प्रथा समाप्त हुई तब व्यक्ति ने फिर अपने को पहले की तुलना में स्वतंत्र पाया, क्योंकि वह पहले के शोषण की तुलना में कम शोषण के समाज में आ गया था। इस युग में व्यक्ति को समान माना गया, चाहे उसे समाज व्यवहार में वही स्थान नहीं मिला। किन्तु यह मान लिया गया कि मनुष्य की आकृति धारण करने वाले रूप समान रूप से सुख दुख और

भावानुभूति के पात्र होते हैं।

जिजीविषा के वाह्य रूप ने जब आंतरिक पक्ष को लिया, भारतीय जीवन में योगमार्ग की उन्नति हुई। सारे व्यवधानों को छोड़कर व्यक्ति ने अपने को ही सर्वोपरि प्रमाणित करने की चेष्टा की। सामन्तीय जीवन में व्यक्तिवाद का सबसे बड़ा माध्यम योग था, बाकी सब बिरादरी के जीवन के अन्तर्गत था, क्योंकि व्यक्ति तब भारत में जाति प्रथा में फँस गया था।

पूंजीवाद के विकास ने व्यक्ति को फिर पहले की तुलना में अधिक स्वतंत्रता दी और उसने अपने को स्वतंत्र अनुभव करके भी अधिक तीव्र विषमता के सामने पाया। व्यक्तिवाद इस अवस्था में योग से भी बुरा प्रमाणित हुआ, क्योंकि योग में व्यक्ति समाज छोड़कर जाता था और पूँजीवाद में वह समाज के भीतर ही रहकर अपने भीतर के द्वन्द्व की घुटन को प्रगट करने लगा।

यही हमारा युग है।

यहाँ व्यक्ति का इतिहास संक्षिप्त रूप से प्रस्तुत किया गया है। व्यक्तिवाद क्या है?

१] व्यक्तिवाद में सबसे बड़ी चीज़ अपने को अन्यों से अलग समझना।

२] इतना अलग समझना कि सब हेय है।

३] सब अपने से कम समझते हैं।

इस आधार पर फिर तो विकृतियों का कोई अन्त ही नहीं है।

साम्यवादी दृष्टिकोण ने इस व्यक्तिवाद को प्रहार का विषय बनाया, क्योंकि यह समाजपरकता का विरोधी था।

अब प्रश्न उठता है कि क्या लेखक को राजनीतिज्ञ का दास नहीं बनाना व्यक्तिवाद है?

क्या यह मान लेना व्यक्तिवाद के क्षेत्र में राजनीतिज्ञों के दलके व्यक्तियों की अहमन्यता को संन्तोष नहीं देता, कि वे ही संस्कृति सभ्यता के दावेदार हैं?

क्या बहुमत में व्यक्तिवाणी काम नहीं करती? क्या बहुमत अपनी कार्य्यवाही चलाने को अपने भीतर के योग्यतम व्यक्ति को नहीं चुन लेता और क्या वह योग्यतम व्यक्ति बाकी अंश तक अपनी मेधा से अन्यों को

प्रभावित नहीं करता।

बहुधा नये लेखकों को यह कहकर बहकाया जाता है कि तुम व्यक्तिवादी हो, जनता से दूर हो। दलगत राजनीतिज्ञ सामूहिक जीवन के प्रतीक होते हैं और जनता के संघर्षों में तप तपकर बड़े योग्य हो जाते हैं। मैं उनकी तप्तावस्था पर आक्षेप नहीं करूँगा, मैं तो केवल इतना कहता हूँ कि तपने के क्षेत्र में क्या भेद नहीं होता? जो लेखक अपने को मर कर खपाकर जीवन की अक्षय निधियाँ तत्पर करता है, वह क्या किन्हीं व्यक्तियों की परीक्षा के लिये? या जनता के लिये? यदि अपने युग के नेता ही प्रत्येक युग के कलाकारों की रचनाओं की जाँच किया करते, तो संसार को इतने महान क्लासिक कभी मिल सकते थे?

कुत्सित समाज शास्त्री कहते हैं कि राजनीतिक दल की आज्ञा मानकर न चलने वाले अपने को जनसमाज के शोषितों के जीवन संघर्ष से दूर रखते हैं। वे उनके संघर्षों में नहीं होते, अतः वे उनके बारे में नहीं जान सकते। वे व्यक्तिवादी होते हैं। उनकी वासनाएं विकृत होती हैं। यौन भावनाओं की कुण्ठा को मिटाने के लिये अपनी निकृष्ट परितृप्ति को प्राप्त करने के लिये ऐसे लेखक जाने या अनजाने पलायन की ओर अग्रसर होकर कला कला के लिये घोषित करके, वर्ग संघर्ष की ज्वलंत गाथा का स्वर धीमा करके प्रतिक्रियावादियों के हाथ में खेलते हैं और उनमें बर्बर युगीन मानव की सी उस स्वतंत्रता की भावना होती है जो कि शोषण पर अपनी नींव रखती है। उस सत्य को ही मानने के कारण वे लोग नई संस्कृति का विरोध करके इतस्ततः बुद्धि भ्रमित करने की चेष्टा करते हैं।

ठीक है। ऐसा वे लेखक कर सकते हैं जो कि अपने सिद्धान्त में जनवाद को बुनियादी नहीं मानते, साधारणीकरण को अनिवार्य्य नहीं मानते, यह नहीं मानते कि साहित्य जन कल्याण के लिये है, वह भावनाओं को उदात्त बनाने के लिये है, वह समाज में से विकृतियाँ हटाने को है। लेकिन जो ठीक इसके विपरीत सोचते हैं, लिखते हैं, वे भी क्या व्यक्तिवादी कहला सकते हैं।

अवश्य ! कुत्सित समाज शास्त्रियों की दृष्टि में ऐसे लेखक भी व्यक्ति-वादी हैं—यदि वे व्यक्ति की सदिच्छा में विश्वास करते हैं, यदि वे यह नहीं मानते कि राजनीतिक दल के वीरों को उन पर शासन करने का अधिकार है,– यदि वे यह तो मानते हैं कि राजनीति प्रत्येक में होती है, परन्तु यह नहीं मानते कि राजनीति का शासन संबंधी रूप ही साहित्य का विषय है, यदि वे यह मानते हैं कि राजनीतिक दस्तावेजों की नकल करना लेखक का काम नहीं है, यदि वे यह मानते हैं कि कि हुक्म पर न लिखकर अपनी तबियत से भी लिखना चाहिए, जब कि भाव स्वयं विषय से तादात्म्य कर ले, यदि वे यह मानते हैं कि साहित्य अपने युग का ही नहीं मानव संस्कृति का स्थायी कोष है जो युग परक होने पर ही उस स्थायी मूल्य को प्राप्त करता है यदि वे राजनीति के बदलते प्रोग्रामों के अनुसार साहित्य को नहीं बदलते, बल्कि जन-जीवन के यथार्थ को अपने चित्रण का आधार बनाते हैं, यदि वे व्यक्ति का यांत्रिक चित्रण नहीं करते और अपने आदर्श का सत्य पात्र पर न थोप कर व्यक्ति को समाज के संबंध में रखकर उसके यथार्थ के सत्य को ही भाव माध्यम से चित्रित करते हैं, यदि वे जीवन के साँगोपांग अध्ययन को साहित्य समझते हैं। यह कार्य करने वाले यदि व्यक्तिवादी हैं तो ऐसा फतवा देने वाले किस खेत की चिड़िया हैं इसका अभी मुआयना करना बाकी है क्योंकि उनसे अजीबो गरीब चीज आज तक नज़र नहीं आई।

माओत्सेतुंग ने एकबार चीन के लेखकों को यह आदेश दिया था कि जनता का चित्रण करते समय उसकी कमियों को ही नहीं दिखायें, वरन् उसका वीर चित्रण करें। जापानियों को उदात्त न बनायें।

मैं यह नहीं समझता कि ऐसा कोई जीवन को यथार्थ सत्य का चित्रण करने वाला लेखक कर ही कैसे सकता है? फासिस्ट जापानी को उदात्त बनाने वाला जनवादी हो ही कैसे सकता है? और यदि एकबार को उसकी सहानुभूति जापानी फासिस्टों से है भी और वह कला के वर्णन में जीवन के यथार्थ चित्रण के सत्य को पकड़ता है तो भले ही वह स्वयं कुछ भी चाहे, बात उल्टी ही ध्वनित होगी। इसी मानदण्ड को तो हमने बालज़ाक पर भी लागू किया था। रही जनता को वीर ही चित्रित करने की बात। क्या जनता के इस एक

पक्षीय वर्णन से लेखक अपनी कल्पना के ही पात्र खड़े नहीं करेगा? लेखक तो तब ही महानक्रान्ति फैला सकता है जब वह जनता की उन भीतरी निर्बलताओं का भी यथार्थ चित्रण करे, जो कि उसकी शक्ति को खाये जारही हैं। कालिदास ने जब शाकुंतल में मछुए को नीच प्रमाणित करने की लालसा प्रगट की है तब भी वह यथार्थ चित्रण में बता गया है कि मछुआ उतना नीच न था, जितना कि रिश्वती सरकारी आदमी था। जीवन के यथार्थ का चित्रण ही दाँते ने किया था। हर्षचरित् जैसी स्तुतिपरक रचना में भी बाण ने सरकारी कर्मचारियों का कितना यथार्थ चित्रण किया है यह क्या देखने की वस्तु नहीं है? तुलसी की सहानुभूति ब्राह्मण वर्ग से होते हुए भी, उसके ब्राह्मणवाद की इतनी पुष्टि करने पर भी क्या समाज के यथार्थ चित्रण ने उसे मुगलों के साम्राज्यवाद के विरुद्ध जनता के साथ खड़ा नहीं किया है? हम जिन मानदण्डों को इतिहास पर लागू करते हैं, वे ही हमारे असत् और सत् के मापने के समय अपने युग पर भी लागू होने चाहिए। इसमें युग विशेष की परिस्थिति के अनुकूल समाज की अवस्था विशेष के अनुसार थोड़ा बहुत भेद किया जा सकता है, परन्तु साहित्य के क्षेत्र में सत् और असत् के मापदण्ड में मूल भेद नहीं हो सकता, मात्रात्मक भेद हो सकता है।

मैं जब राजनीतिज्ञों का विरोध करता हूँ तो इसलिये नहीं कि उन्हें बुरा या मूर्ख मानता हूं। वे जनता के लिए जीवन बलिदान देते हैं। वे जनता के सुख दुख को अपना समझते हैं, किंतु फिर भी उनका जनता से वह तादात्म्य कभी भी संभव नहीं है, जो कि लेखक का होता है, क्योंकि लेखक की दृष्टि उनके फ़ौरी प्रोग्रामों से ऊँची होती है और वह जनजीवन से अधिक शक्ति ग्रहण करता है, क्योंकि वह उनका सांगो-पांग रूप देखता है।

साहित्य और कला की समस्याओं पर प्रकाश डालते हुए माओत्सेतुंग ने कहा है—

साहित्य और कला की आलोचना के दो मानदण्ड हैं। एक राजनैतिक मानदण्ड है और दूसरा कलात्मक मानदण्ड।

राजनीतिक मानदण्ड से कलात्मक उत्पादन अच्छा होता है या तुलनात्मक रूप से अच्छा, यदि वह हमारे एकता और शत्रुविरोध के युद्ध के स्वार्थों

की सेवा करता है। जनता में एकता के भाव को बढाता है। और नीचे गिरने का विरोध करता है और प्रगति की सहायता करता है। × × × कलात्मक उत्पादन बुरा होता है या तुलनात्मक रूप से बुरा, यदि वह जनता में विभाजन और असंतोष बढाता है। यदि वह प्रगति रोकता है, और जनता को पीछे खींचता है। १

यह विभाजन कि कला और राजनीति दो हैं गलत है। राजनीति वर्गों का संबंध प्रगट करती है अवश्य किंतु जब वह साहित्य में आती है तब अपने दस्तावेज़ी नंगे रूप में नहीं, मनुष्यों के जीवन में से प्रतिबिंबित होकर आती है, अर्थात् वह युग विशेष में व्यक्ति का सांगोपांग अध्ययन बनकर आती है। उस अवस्था में राजनीति संकुचित नहीं रहती, वहाँ दस्तावेज़ी बात नहीं रहती, यह उत्पादन के साधनों में पैदा हुए प्रभावों का यांत्रिक वर्णन नहीं होती, समाज में व्यक्तियों के व्यापक जीवन, उनके मनोविज्ञान और प्रेरणाओं का बिंब बनती है। उस समय जब कि हम समाज यथार्थ को ही सबसे बड़ा सत्य मानते हैं, तब कला जो कि विषय कि अभिव्यक्ति का वाह्यरूप मात्र है, उसे अलग करके कैसे देखा जा सकता है? प्रगति तो विषय पर निर्भर होती है। उसमें कला के दो रूप हो सकते हैं, एक वह कला जो पुरातन की लीक पीटना हैं, अर्थात् युग परकता से दूर हो जाना है, और दूसरी वह कला है जो युग के यथार्थ का चित्रण करती है। बालज़ाक की कला क्या कहती है? क्या उसकी कला उसके विषय से अलग है? बालज़ाक, मान लीजिये, चाहता कुछ और था, परन्तु उसकी अभिव्यक्ति से ध्वनित कुछ और हुआ, तो ऐसी अवस्था में वह ध्वनि उसकी कला से तभी न निकली, जब कि उसने विषय में यथार्थ का चित्रण किया? कला राजनीति से किस प्रकार अलग की जाती है यह तो हमारी समझ में नहीं आता। यदि कोई रीतिकालीन छंद चमत्कार प्रस्तुत करे, तो क्या वह बात श्रेष्ठ मानी जायेगी? वह तो भावहीन होने पर स्वयं रीतिकाल में ही अच्छी नहीं मानी गई। तो फिर यह कैसी नासमझी कि आप स्वयं मानते हैं कि आपका दृष्टिकोण एक स्वार्थ विशेष का दृष्टिकोण

---

१. प्रोब्लेम्स आफ़ आर्ट एण्ड लिटरेचर माओत्सेतुंग पृष्ठ २६.

साहित्य की कितनी शक्ति है यह राजनीतिज्ञ जानता है। वह इस पक्ष की सहायता के बिना कितना पंगु है यह उससे छिपा हुआ नहीं है। वह इस सत्य से परिचित है कि वद स्वयं वाह्य जीवन का निर्माता है, वह स्तालिन के शब्दों में—'मानव आत्मा का शिल्पी' नहीं है। इसीलिये वह बड़े सतर्क रूप से लेखक से बातें करता है। जनवाद की आड़ में वह उस पर अपना अधिकार स्थापित करना चाहता है और उसे सांस्कृतिक क्षेत्र में अपना मातहत बनाकर रखना चाहता है।

माओत्सेतुंग ने इसे बिल्कुल स्पष्ट कर दिया है कि उसकी दृष्टि में साहित्यकार का राजनीतिज्ञ के सामने क्या स्वरूप है। पढ़कर देखिये कि निरंकुश सत्तावाद का व्यक्तिवादी संस्कार किसमें है—

"हम इस पक्ष में नहीं हैं कि साहित्य और कला को अत्यधिक महत्त्व दें, न हम उसको कम महत्त्व देने के पक्ष में ही हैं। यद्यपि साहित्य जबरदस्त प्रभाव डालते हैं। × × × यदि हमारे पास कोई साहित्य और कला न होती, नितांत साधारण किस्म की ही, तो भी हम न क्रांति कर पाते न विजय प्राप्त कर पाते। इस सत्य को न पहचानना गलती होगी। × × जब हम यह कहते हैं कि साहित्य और कला राजनीति के आधीन हैं तब हमारा मतलब वर्ग-राजनीति और जन-राजनीति से है, कुछ राजनीतिज्ञों की तथाकथित राजनीति से नहीं है। राजनीति चाहे वह क्रांतिकारी हो चाहे क्रांति-विरोधी हो, दो विरोधी वर्गों के संघर्ष का प्रतिनिधित्व करती है, वह अलग-अलग व्यक्तियों के चरित्र-वैचित्र्य का प्रतिनिधित्व नहीं करती। सैद्धांतिक संघर्ष और साहित्य-कला का युद्ध, विशेषकर क्रांतिकारी सिद्धांतों का युद्ध तथा क्रांतिकारी साहित्यकला का संघर्ष, इनको राजनीतिक युद्ध के आधीन रहना चाहिये क्योंकि वर्ग की आवश्यकता और जनता की आवश्यकता अपने केन्द्रित रूप में राजनीति के ही माध्यम से प्रगट हो सकती है। × × × क्रांतिकारी राजनीतिक कुशल व्यक्ति (Experts) जिन्होंने कि क्रांतिकारी राजनीति की कला और विज्ञान पर पूर्णाधिकार कर लिया है, जनता में रहने वाले हजारों, लाखों राजनीतिक कुशल व्यक्तियों के केवल नेता हैं। उनका काम जनता में फैले उन राजनीतिक कुशल व्यक्तियों के

विचारों को स्वरूप देकर, स्फटिकवत् करके जनता में इस रूप को पहुँचाना है कि जनता उनको समझ सके और उन्हें व्यवहार में ला सके।"[1]

राजनीतिज्ञ है कौन कि वह महत्त्व दे, या न दे? क्या जीवन का वही शासक है? यह यह क्यों भूल जाता है कि वह भी जीवन का एक अङ्ग है। फिर इतना अकड़कर भी वह कितना पंगु है कि साहित्य के बिना उसकी क्रांति ही नहीं चलती। वह जब राजनीति के आधीन प्रमाणित करके कला और साहित्य पर हावी होना चाहता है तब यह क्यों भूलता है कि साहित्य में राजनीति केवल शासन पद्धति के रूप में नहीं रह जाती। जन राजनीति के नाम पर कुछ 'कुशल व्यक्तियों' के नाम पर राजनीतिज्ञ ही हो सकते हैं लेखक नहीं। लेखक क्या राजनीतिज्ञों के फरमानों की व्याख्या करने वाले हैं। लेखकों का काम यदि कुशल व्यक्तियों के विचारोंको स्वरूप देना है तो लेखक की आत्मानुभूति की गुंजाइश कहाँ है। आश्चर्य्य तो यह है कि चीन जैसे प्राचीन सुसंस्कृत देश का नेता ऐसी मध्यकालीन निरंकुशता और व्यक्तिवाद से बातें करता है। क्या सक्षेप में इसका अर्थ यही नहीं है कि पार्टी के हुक्म से उसके दस्तावेज़ों को स्पष्ट रूप देते रहो। तुम्हारी कल्पना, तुम्हारा समाज यथार्थ का चित्रण कुछ नहीं है, क्योंकि 'कुशल व्यक्ति' तो राजनीतिज्ञ हैं, लेखक तो पिछलगुए व्यक्तिवादी हैं। राजनीतिक तो वर्गहीन हैं, वे तो किसी संस्कार या परम्परा से प्रभावित नहीं हो सकते, किन्तु साहित्यकार तो वर्ग में से आता है, उससे तो संस्कार या परम्परा छूट ही नहीं सकते। यही है न यह तर्क अपने असली रूप में। और ढाल क्या है! जनता का सुख। इसी अनर्गलता का रूप अब कला के रूपों की व्याख्या में भी देखा जा सकता है—

"यह सम्भव है कि नितांत प्रतिक्रियावादी साहित्य और कला, फ़ासिस्टों की सृजनात्मक रचनाएं भी कुछ हद तक कलात्मक गुण रख सकती हैं, क्यों कि उच्च कलात्मक गुण का प्रतिकियावादी उत्पादन (साहित्यादि) जनता का गहरा अहित कर सकता है, उन्हें अवश्य अस्वीकार कर देना चाहिए, छोड़ देना चाहिए। अपने ध्वंसकाल में शोषकवर्गों के साहित्य और कला में एक

१. प्रोब्लेम्स आफ़ आर्ट एण्ड लिटरेचर—माओत्सेतुंग पृ० २५.

चीज़ आम रहती है—उनकी प्रतिक्रियावादी राजनीतिक विषय वस्तु और उनके कलात्मक रूप में पारस्परिक विरोध । × × हम राजनीति और कला में एकता चाहते हैं, हम विषयवस्तु और रूप में सामरस्य चाहते हैं— क्रांतिकारी राजनीतिक विषयवस्तु और उच्चतर स्तर का कलात्मक रूप-इनका समन्वय । भले ही राजनैतिक रूप से कितनी भी प्रगतिशील रचना क्यों न हो वह रचना प्रभावोत्पादक नहीं होती जो कलात्मक गुण नहीं रखती । इस प्रकार हम न केवल उन कला की रचनाओं का विरोध करते हैं जिनकी कि विषयवस्तु प्रतिक्रियावादी और हानिकारक होती है, बल्कि हम उनका भी विरोध करते हैं जो कि 'नारेबाजी और पोस्टरबाजी' के ढङ्ग की रचनाएं होती हैं जिनमें केवल विषयवस्तु पर जोर होता है, रूप पर कोई ध्यान नहीं देता । हमें साहित्य और कला के क्षेत्र में इन दोनों मोर्चों पर लड़ना है ।"[१]

यह कैसे संभव है कि प्रतिक्रियावादी साहित्य और कला भी कलात्मक गुण रखे ? समाज के यथार्थ सत्य से अलग रचना किस प्रकार कलात्मक गुण रख सकती है ? कला क्या कोई बाह्य वस्तु है, जो कि विषय से अन्तर्ग्रथित नहीं है ? रूप और वस्तु की एकता चाहने वाले ये व्यक्तिवादी नेताजी स्वयं जानते हैं कि कोरी नारेबाज़ी प्रभावोत्पादक नहीं होती । वे वहाँ पर ज़ोर देने को कहते हैं । पुराने रूप उनकी राय में गल गये हैं, तब वे नये रूप चाहते हैं, और ऐसा बयान करते हैं जैसे रूप वस्तु अलग-अलग हैं । उनकी राय में वस्तु ही रूप का अनुकूल सृजन नहीं कर लेती । उनको वस्तु के रूप में कोरी शासन सम्बन्धी राजनीति चाहिये, वे यथार्थ सत्य की अभिव्यक्ति में कलाकार की आत्मानुभूति के तादात्म्य की बात ही नहीं करते । उन्हें तो मोर्चों पर लड़ना है । कोरी राजनीति के बारे में वे जानते हैं कि यह निष्प्राण है । साहित्य जीवन की पूर्णता और भावपक्ष चाहता है । उसे वे समझते नहीं । इसी को वे संभवतः कलात्मकता कहते हैं । जिन्हें काव्यशास्त्र के अ ब स का ज्ञान नहीं, वे 'कुशल व्यक्ति' कहलाने लगे हैं । ग़नीमत यही है कि केवल जनता के जयजयकार के पात्र भारतीय नेता पं० जवाहरलाल नेहरू ने अभी तक कला और शास्त्र पर भाषण नहीं दिया है, वर्ना अपने राम ने

१. प्रोब्लेम्स आफ़ आर्ट एण्ड लिटरेचर—माओत्सेतुंग पृ० २६.

तो अपनी कलम को छोड़ ही दिया होता और गर्दन पर तलवार की प्रतीक्षा प्रारम्भ कर दी होती।

जीवन यथार्थ के चित्रण के प्रति अपना उत्तरदायित्व न समझने के कारण महाकुशल व्यक्ति ने साहित्य के अच्छे बुरे को भी पार्टी के आदर्श के अन्तर्गत रखा है और लेखक की उस ईमानदारी पर लात मारी है, जिसकी कि मरे हुए शेक्सपियर बालज़ाक, ताल्स्ताय में खोजखोज कर दुहाई दी जाती है।

"केवल बुरे को प्रगट करना साहित्य और कला का काम नहीं है। क्राँतिकारी लेखकों और कलाकारों को अपने काम को इतने में ही सीमित नहीं करना है। उन्हें हमलावरों, शोषकों और अत्याचारियों को प्रगट करना चाहिये। स्वाभाविक ही है कि जनता में भी कमियाँ हैं किन्तु वे अधिकाँश उनके हमलावर, अत्याचारी, शोषक शासकों द्वारा पैदा की गई हैं। हमारे क्रांतिकारी लेखकों को कलाकारों को उन कमियों का दोष अत्याचारी, हमलावर, शोषक शासकों के जुल्मों पर रखना चाहिये, स्वयं जनता की निर्बलता को प्रगट नहीं करना चाहिये। जनता के विषय में, हमारी केवल एक समस्या है कि उन्हें शिक्षित करें और उसका स्तर उठायें। केवल प्रतिक्रियावादी लेखक और कलाकार ही जनता को 'जन्म से मूर्ख' समझते हैं और क्रांतिकारी जनता को 'निरंकुश भीड़' कहते हैं। ×× हमें जनता की कमियों की जनता के दृष्टिकोण से ही आलोचना करनी चाहिये और जनता को शिक्षित करने उसकी रक्षा करने के दृष्टिकोण से करनी चाहिये। यदि आप अपने साथियों से उसी निष्ठुर तरीके से पेश आयेंगे जिससे आप अपने शत्रु से आते हैं, आप निश्चय ही वही जगह ले रहे हैं जो आपका शत्रु लेता है।[1]"

जब जीवन के यथार्थ का सत्य लेखक की ईमानदारी का विषय मानकर ही, हमने आज तक के साहित्य का स्थायी महत्व ढूंढ़ा है, तब वही सिद्धाँत अब क्यों लागू नहीं होता? इस युग का लेखक कुछ खास बेईमान या ज़्यादा बेवकूफ़ है? जब आप जनता के दृष्टिकोण से जनता की कमियों की आलोचना करते हैं। उस समय यदि आप अपने दृष्टिकोण से जनता की कमियों का चित्रण करना चाहें तब भी प्रभावोत्पादकता में वह जनता के दृष्टिकोण को

१ प्रोब्लेम्स आफ़ आर्ट एण्ड लिटरेचर माओत्सेतुंग पृ० ३१–३२

चीज़ आम रहती है—उनकी प्रतिक्रियावादी राजनीतिक विषय वस्तु और उनके कलात्मक रूप में पारस्परिक विरोध । × × हम राजनीति और कला में एकता चाहते हैं, हम विषयवस्तु और रूप में सामरस्य चाहते हैं—क्रांतिकारी राजनीतिक विषयवस्तु और उच्चतर स्तर का कलात्मक रूप—इनका समन्वय। भले ही राजनैतिक रूप से कितनी भी प्रगतिशील रचना क्यों न हो वह रचना प्रभावोत्पादक नहीं होती जो कलात्मक गुण नहीं रखती। इस प्रकार हम न केवल उन कला की रचनाओं का विरोध करते हैं जिनकी कि विषयवस्तु प्रतिक्रियावादी और हानिकारक होती है, बल्कि हम उनका भी विरोध करते हैं जो कि 'नारेबाजी और पोस्टरबाजी' के ढङ्ग की रचनाएं होती हैं जिनमें केवल विषयवस्तु पर जोर होता है, रूप पर कोई ध्यान नहीं देता। हमें साहित्य और कला के क्षेत्र में इन दोनों मोर्चों पर लड़ना है।"[1]

यह कैसे संभव है कि प्रतिक्रियावादी साहित्य और कला भी कलात्मक गुण रखे ? समाज के यथार्थ सत्य से अलग रचना किस प्रकार कलात्मक गुण रख सकती है ? कला क्या कोई बाह्य वस्तु है, जो कि विषय से अन्तर्ग्रथित नहीं है ? रूप और वस्तु की एकता चाहने वाले ये व्यक्तिवादी नेताजी स्वयं जानते हैं कि कोरी नारेबाज़ी प्रभावोत्पादक नहीं होती। वे वहाँ पर ज़ोर देने को कहते हैं। पुराने रूप उनकी राय में गल गये हैं, तब वे नये रूप चाहते हैं, और ऐसा बयान करते हैं जैसे रूप वस्तु अलग-अलग हैं। उनकी राय में वस्तु ही रूप का अनुकूल सृजन नहीं कर लेती। उनको वस्तु के रूप में कोरी शासन सम्बन्धी राजनीति चाहिये, वे यथार्थ सत्य की अभिव्यक्ति में कलाकार की आत्मानुभूति के तादात्म्य की बात ही नहीं करते। उन्हें तो मोर्चों पर लड़ना है। कोरी राजनीति के बारे में वे जानते हैं कि यह निष्प्राण है। साहित्य जीवन की पूर्णता और भावपक्ष चाहता है। उसे वे समझते नहीं। इसी को वे संभवतः कलात्मकता कहते हैं। जिन्हें काव्यशास्त्र के अ ब स का ज्ञान नहीं, वे 'कुशल व्यक्ति' कहलाने लगे हैं। ग़नीमत यही है कि केवल जनता के जयजयकार के पात्र भारतीय नेता पं० जवाहरलाल नेहरू ने अभी तक कला और शास्त्र पर भाषण नहीं दिया है, वर्ना अपने राम ने

१. प्रोब्लेम्स आफ़ आर्ट एण्ड लिटरेचर—माओत्सेतुंग पृ० २६.

तो अपनी कलम को छोड़ ही दिया होता और गर्दन पर तलवार की प्रतीक्षा प्रारम्भ कर दी होती।

जीवन यथार्थ के चित्रण के प्रति अपना उत्तरदायित्व न समझने के कारण महाकुशल व्यक्ति ने साहित्य के अच्छे बुरे को भी पार्टी के आदर्श के अन्तर्गत रखा है और लेखक की उस ईमानदारी पर लात मारी है, जिसकी कि मरे हुए शेक्सपियर बालज़ाक, ताल्स्ताय में खोजखोज कर दुहाई दी जाती है।

"केवल बुरे को प्रगट करना साहित्य और कला का काम नहीं है। क्राँतिकारी लेखकों और कलाकारों को अपने काम को इतने में ही सीमित नहीं करना है। उन्हें हमलावरों, शोषकों और अत्याचारियों को प्रगट करना चाहिये। स्वाभाविक ही है कि जनता में भी कमियाँ हैं किन्तु वे अधिकाँश उनके हमलावर, अत्याचारी, शोषक शासकों द्वारा पैदा की गई हैं। हमारे क्रांतिकारी लेखकों को कलाकारों को उन कमियों का दोष अत्याचारी, हमलावर, शोषक शासकों के जुल्मों पर रखना चाहिये, स्वयं जनता की निर्बलता को प्रगट नहीं करना चाहिये। जनता के विषय में, हमारी केवल एक समस्या है कि उन्हें शिक्षित करें और उसका स्तर उठायें। केवल प्रतिक्रियावादी लेखक और कलाकार ही जनता को 'जन्म से मूर्ख' समझते हैं और क्रांतिकारी जनता को 'निरंकुश भीड़' कहते हैं। ×× हमें जनता की कमियों की जनता के दृष्टिकोण से ही आलोचना करनी चाहिये और जनता को शिक्षित करने उसकी रक्षा करने के दृष्टिकोण से करनी चाहिये। यदि आप अपने साथियों से उसी निष्ठुर तरीके से पेश आयेंगे जिससे आप अपने शत्रु से आते हैं, आप निश्चय ही वही जगह ले रहे हैं जो आपका शत्रु लेता है।[1]"

जब जीवन के यथार्थ का सत्य लेखक की ईमानदारी का विषय मानकर ही, हमने आज तक के साहित्य का स्थायी महत्व ढूंढ़ा है, तब वही सिद्धाँत अब क्यों लागू नहीं होता? इस युग का लेखक कुछ खास बेईमान या ज़्यादा बेवकूफ़ है? जब आप जनता के दृष्टिकोण से जनता की कमियों की आलोचना करते हैं। उस समय यदि आप अपने दृष्टिकोण से जनता की कमियों का चित्रण करना चाहें तब भी प्रभावोत्पादकता में वह जनता के दृष्टिकोण को

---

१ प्रोब्लेम्स आफ़ आर्ट एण्ड लिटरेचर माओत्सेतुंग पृ० ३१–३२

ही प्रस्तुत करने के समान होगा, क्योंकि जिस प्रकार प्राचीन लेखक चाहते भले कुछ और थे, पर चित्रित कर गये कुछ और और 'क्रान्ति के दर्पण' कहलाये, तो फिर वर्त्तमान लेखकों पर ही अंकुश की क्या आवश्यकता है? क्योंकि आप । कुशल व्यक्ति हैं, और लेखक की जाति बेईमान है। आप संस्कृति और सभ्यता के दावेदार है, लेखक पुराने संस्कारों का कीड़ा है? क्योंकि आप तो जन समाज के नेता हैं, लेकिन लेखक केवल व्यक्तिवादी है? यों कहिये कि आपके हाथ में लाठी है, और लेखक के कलम है। आप जानते हैं कि आपकी लाठी मनुष्य की आत्मा को नहीं छूती, इसी से आप कलम घिसवाना चाहते हैं और वह भी अपनी लाठी के नीचे रखना चाहते हैं। नहीं, यह निरंकुशता किसी जनवाद की आड़ में नहीं पल सकती। यह मार्क्सवाद के ही विरोध में पड़ती है।

बाल्ज़ाक यथार्थवाद पर ज़ोर देता था अथवा कहें उस यथार्थ पर जोर देता था, जिसे वह यथार्थ समझता था।[1] उस पर किस पार्टी का अंकुश था? किन्तु उसके यथार्थ में मार्क्स को भी आनन्द आया? ऐंगिल्स ने उसके यथार्थ को ज़ोला के यथार्थ से ऊपर रखा। आप राजनीति का सक्रिय रूप पार्टी कार्य्यक्रम में ही देखते हैं? लेखक को उसी के अनुसार नियोजित करते हैं! नतीजा होता है रूसी साहित्य की एकरसता का सृजन, जिससे, जनता भीतर ही भीतर ऊब उठती है। कला घुटने लगती है। आप कला और राजनीति को साहित्य में भी रूप और विषय की संकीर्णताओं में बाँधना चाहते हैं? जीवन की सांगोपांग शक्ति को आप कहां देखते हैं?

प्राचीनकाल से ही साहित्य में जो सांगोपांग जीवन आया है, वह कहाँ रहेगा? उदाहरणार्थ, अमेरिका का एक इन्डियन कहता है—

'प्राचीन नोन-होन-शिन-गा के गीत वी० गी० ई नाम से हमारे पास परम्परा से आये हैं। वे हमारे उत्सवों के रूपों, प्रतीकों के रूप में हैं और उनकी बहुत सी बातें जो हमारे चारों ओर हैं, वे प्राचीन रहस्यात्मक बात हैं। वे इन रहस्यों को अपनी वा-थी-न्थौन नामक शक्ति से जान पाये थे, वह शक्ति थी विचार से ही वस्तु की खोज कर लेना। ×× उन्होंने बहुत दिन तक

१ द नॉवेल्स इन फ्रॉस मार्टिनटर्नल १९५१ पृ० २२९

जीवन के स्रोत के बारे में अन्वेषण किया और अन्त में वे इस विचार पर पहुँचे कि वह एक अदृश्य सृजनात्मक शक्ति से निकलता है, और उसका नाम उन्होंने वा-कोन्-डा रखा।[२]

आदिम जाति के इक विश्वास में तत्कालीन समाज का यथार्थ बोलता है, जिसमें व्यक्ति सृष्टि का रहस्य खोजता है। आप सृष्टि के रहस्य खोजने का काम साहित्यिक से छीनकर वैज्ञानिक को देते हैं, अपनी पार्टी के कार्यक्रम के आधीन करके उसे आप स्वतन्त्रता से मानव कल्याण का चिंतन करने से रोक देते हैं, फिर उसके पास लिखने को रह क्या गया? आप उसकी अनुभूति के स्थान पर 'पार्टी की आवश्यकता' को बिठाते हैं। लानत है लेखकों को जो वे दास बनकर यह सुनते हुए रहें कि वे व्यक्तिवादी हैं और बुरे हैं, उनमें पलायन की प्रवृत्ति जड़ में है और फिर भी लिखें? और लिखें भी क्या? दस्तावेजों को स्फटिकवत् करते रहें।

प्रश्न है कि लेखक की जनता से सीधी ज़िम्मेदारी है या पार्टी के कुशल व्यक्तियों के माध्यम से उसका संबंध है? जार के समय में जो सिंहासन की रक्षा के नाम पर पुश्किन के साथ होता था, वही जनता के नाम की ढाल की आड़ में अब लेखकों के साथ होता है। रूसी जीवन में पार्टी ने जनवादी उद्देश्य की पूर्त्ति करने की चेष्टा की, किंतु पार्टी का ढाँचा अपनी परम्परा के कारण मध्यकालीन ही रहा, और है, और किस हद तक चीन पर उसने प्रभाव डाला है, यह हमने ऊपर स्पष्ट किया। हो सकता है अब भी मैं ही व्यक्तिवादी हूं, क्योंकि आवाज उसी की उठेगी जिसके संग दस बीस बिना सोचे समझे चिल्लाने वाले हों, जिन्हें सहज ही बहकाया जा सकता हो कि 'इस्लाम खतरे में है, चाहे उन्हें ठीक से पता भी न हो कि इस्लाम है क्या!

हमें इस विषय को छोड़कर अब विज्ञान के क्षेत्र को देखना आवश्यक है क्योंकि संस्कृति का उससे गहरा संबन्ध है। हमने ऊपर वैज्ञानिक की बात की है। उसे स्पष्ट करना उचित है। एक वैज्ञानिक कहता है—

"यदि यह निश्चित हो जाये कि संसार के नियम ऐसे ही पहले से निश्चित नहीं कर लिये गये हैं, या पता नहीं कि आगे होगा क्या, तब वह

२ इन्डियन्स आफ़ द अमेरिकाज़, जौंन कोलियर १९५१ पृ० १०८

दार्शनिक विचारों पर गहरा प्रभाव छोड़ेगा। हमारी जो स्वतंत्र-इच्छा शक्ति की धारणा है, वह कल्पना मात्र नहीं रह जायेगी। प्रकृति एक विशाल मशीन है जो अपना कार्य्य करती जा रही है, यह तो हुआ यों कि सब कुछ पहले से तय सा है। लेकिन यदि ऐसा नहीं है तो हम प्रकृति में सृजनात्मक इच्छाशक्ति की नवीनता का रूप भी देख सकेंगे। ऐडिंगटन ने जैसा कहा था उसके अनुसार ऐसा हो जाने से प्रकृति और दैवी में जो भेद है वह दूर हो जायेगा या कम हो जायेगा। × × विज्ञान के बारे में बहुत से लोग सोचते हैं कि उसने जीवन को अन्धकारमय बना दिया है। १ ''

यदि हम इस इच्छाशक्ति और पूर्वकल्पितवाद को नहीं स्पष्ट करते तो उलझन अवश्य पैदा होगी।

पुराना दर्शन पूर्वकल्पितवाद को मानता है। आत्मा है। उसमें स्वेच्छा नहीं है। यदि इस पूर्वकल्पितवाद को माना जाये तो नये की गुंजायश ही कहाँ है? किन्तु पुरानों ने भी पुनर्जन्म के रहते हुए भी जन्म विशेष में पूर्व के कर्मों का फल भोगता हुआ बताकर भी, अगले जन्म में जो कर्मफल भोग्य होंगे, उनके मूल कारणों को अर्थात् इस जन्म के कर्मों को व्यक्ति पर ही अवलंबित माना है।

हम पूर्वकल्पितवाद को नहीं स्वीकार करते। हम यह मानते हैं कि प्रकृति के कुछ नियम हैं, जिनके अनुसार वह काम करती है। यह नहीं हो सकता कि एक रात ध्रुवतारा उत्तर में दिखाई दे, दूसरे दिन पश्चिम में। हम ऊपर सृष्टि के विराट रूप की एक झलक सूर्य्य का वर्णन करके दे आये हैं, केवल इसीलिये कि पृथ्वी की वास्तविक सत्ता का सृष्टि में महत्त्व समझ लेना अत्यंत आवश्यक है। तो प्रकृति अपने नियम से कार्य्य करती है। किन्तु वे नियम जब धीरे-धीरे मात्रात्मक परिवर्त्तन से गुणात्मक परिवर्त्तन कर देती हैं, तो यद्यपि यह सारी बात भी नियम के अन्तर्गत होती है, किन्तु वह गुणात्मक परिवर्त्तनात्मक स्थिति पहले से कल्पित नहीं होती। यही हम मनुष्य समाज पर भी लागू कर सकते हैं। प्रकृति में नियम है। सूर्य्य समय पर ही दिखता है। अनेक कार्य्य कारणों से सृष्टि चलती है। उसका रहस्य कहीं बाहर नहीं

१ लिमिटेशन्स आफ़ साइंस, जे० डब्ल्यू० एन० पृ० १४८-४९

है। उसके भीतर ही है, उसके प्रगट रूप में ही है। बहुत सी ऐसी बातें हैं जिन्हें हम समझते नहीं, किन्तु कोई कारण ऐसा नहीं है कि हम उनके विषय में यह सोचने लगें कि उन्हें हम कभी समझेंगे भी नहीं। प्रकृति में नियम होने से 'स्वेच्छा' नहीं चल सकती। अगर घूमते-घूमते तारा पृथ्वी की आकर्षण परिधि में आ जायेगा तो पृथ्वी उसे अवश्य अपनी ओर खींचेगी और वह ज्योति लीक की बनाकर भस्म हो जायेगा, क्योंकि उसकी गति और वायु का दबाब अवश्य ही गर्मी पैदा करके अग्नि को धधका देंगे। इसी प्रकार मनुष्य समाज के भी कुछ नियम होते हैं, व्यक्ति उनसे परे नहीं रह सकता। किन्तु अब मनुष्य और अन्य प्रकृति का अङ्ग है। प्रकृति पर आश्रित है। वह प्रकृति के मूल रूपों को नहीं बदल सकता, केवल प्रकृति के उन रूपों का अपने लिये प्रयोग कर सकता है, उनके मूलरूप को नहीं बदल सकता, उनको अपने सुख के लिये नियोजित कर सकता है, जो अन्य पशु-जीवित प्राणी नहीं कर सकते। अन्य पशु जैसा प्रकृति को पाते हैं, वैसी ही प्रकृति में रहते हैं, मनुष्य जिस प्रकृति को पाता है, उसमें कुछ ऐसे प्रयोग करता है कि ज़िन्दगी को आराम से गुज़ारता है। उदाहरण के लिये पशु वहीं जाता है जहाँ उसे भोजन मिलता है, मनुष्य भोजन पैदा करके टिक कर रहता है। पशु खोह ढूंढ़ता है, चिड़िया तिनके लालाकर घोंसला बनाती है। मनुष्य इन अवस्थाओं से आगे है। वह मिट्टी पत्थर तिनकों का प्रयोग करके जहाँ सहूलियत नहीं है वहाँ भी घर बना सकता है। वह पानी का वेग देखकर मिट्टी को पकाकर ईंटें बना सकता है। ऐसा क्यों है? क्योंकि प्रकृति के मात्रात्मक परिवर्त्तनों ने जो धीरे-धीरे गुणात्मक परिवर्त्तन किया है, वह पहली अवस्था से अगली अवस्था में उच्चतर अवस्था को प्राप्त हुआ है। इसलिये जब भौतिक तत्त्व ने अपने गुणात्मक परिवर्त्तन से मस्तिष्क को बनाया तब मानव अन्य सबका स्वामी बन गया। क्योंकि वह भौतिक की सबसे उन्नत अवस्था में था। चेतना के कारण ही मनुष्य का अपना एक व्यक्तित्व है। यह व्यक्तित्व समाज के नियमों के अन्तर्गत रहता है किन्तु इसके कारण व्यक्ति का व्यक्तिगत कार्य्य व्यापार पूर्वकल्पित नहीं हो सकता। इसके कार्य्य व्यापार समाज और वर्ग की स्थिति से किस प्रकार प्रभावित होते हैं और इसकी चेतना पर किस प्रकार प्रभाव

डालते हैं। वह तो बताया जा सकता है, परन्तु वही व्यक्ति इस प्रकार के संबंधों की सीमा को तोड़ने पर विश्वमानव के सन्निकट आता है। इसी विश्वमानवत्व की प्राप्ति और प्राप्ति के लिये उदात्ततर बनाये जाने की प्रक्रिया ही, मनुष्य की चेतना, समाज से तादात्म्य बनाये रख कर साहित्य में करती है। यह चेतना स्वेच्छापरक नहीं होती, यह सदिच्छापरक होती है। सदिच्छा के मूल में जिजीविषा ही रहती है, जो क्रम विकास में उदात्ततर स्वरूप धारण करके प्रगट हुआ करती है। इसीलिये विज्ञान और साहित्य में यह एक सूक्ष्म भेद है, क्योंकि विज्ञान इस सदिच्छा को अपने यंत्रो से नहीं जान सकता। यह तो मनुष्य और मनुष्य के सामाजिक सम्बन्ध में ही प्रगट होती है, जो कि साहित्य का विषय है। वर्ग संघर्ष में दलित वर्ग की आवाज़ उठाना, क्रान्ति के द्वारा विगत युगों के कुसंस्कारों को मिटाना, साम्राज्यवाद का विद्रोह करना, और श्रमिक वर्ग की विजय कामना में निरंतर प्रयत्नशील रहना इत्यादि, इसी व्यापक सदिच्छा के प्रकारांतर हैं, व्यवहारिक रूप हैं, वस्तु स्थिति को ईमानदारी से देखने के फल हैं।

विज्ञान मनुष्य के मात्रात्मक परिवर्त्तन से हुए गुणात्मक परिवर्त्तन रूप इस चेतना का विश्लेषण कर सकता है, इसे अच्छी तरह जान सकता है, किन्तु वह उसे अपने विश्लेषण की सीमा में बाँधकर नहीं रख सकता।

'विज्ञान मनुष्य के उन प्रगतिशील कार्य्यों में से जन्म लेता है जो प्रयोग और अनुभवगत पर्य्यवेक्षण से उत्पन्न विचारों तक अपना विकास प्राप्त करते हैं और यह अनुभव और प्रयोग अपने से आगे अन्य अनुभवों और प्रयोगों को जन्म देते हैं। प्रयोगों का विकास विगत तीन सौ वर्षों के इतिहास में बताता है कि इनमें से कई सफल हुए हैं और कुछ व्यर्थ गये हैं। विचारों के ताने बानों से नवीन विकास का वस्त्र बुना जाता है। यह विकास ही आधुनिक विज्ञान हैं। एक नये विचार की सफलता इसमें नहीं मानी जाती कि अब तक के ज्ञान उसके अनुकूल बैठते है, किन्तु उसकी सफलता और असफलता इससे नापी जातीं है कि उसके द्वारा नये प्रयोग हो सकते हैं या नहीं और वे आगे बढ़ाने वाले हैं या नहीं। विज्ञान का यह गत्यात्मक गुण ही उसकी परिभाषा के सन्निकट है, जो प्रयोग में ही सीमित नहीं हो जाता

वरन् नये विचारों पर निर्भर करता है।[1]

भौतिक जीवन ही अपने गुणात्यक रूप में चेतन बनता है। उस चेतन को किसी परमात्मा का रूप देना सृष्टि के रहस्य को सृष्टि से बाहर करके देखने की कल्पना करना है। जब वह भौतिक रूप में रहता है तब वह अपने एक रूप में दिखाई देता है, जब वह शक्ति बनता है तब उस समय भी वह भौतिक का ही रूप होता है। "अणुविभेद एलेक्ट्रोन और प्रोटोन, अणु रूप में भी दिखाई देते हैं और लहर (शून्य) के रूप में भी। पहले जो रेडियेशन के विषय में पाया जाता था, वह अब इनके विषय में भी पाया गया है।२"

तब मनुष्य की चेतना यद्यपि विज्ञान के अन्तर्गत हैं, और मनुष्य से मनुष्य के सम्बन्ध का जो कार्य्य व्यापार है, वह समाज शास्त्र के अन्तर्गत है, किन्तु उस चेतना का अपना सांगोपांग व्यक्तित्व साहित्य का ही विषय है, जो उसके समस्त व्यवधानों का अध्ययन करता है, उनके संबंधों का विश्लेषण करता है, उसे एकान्त करके नहीं देखता, किन्तु इन सबके बाद वह उसका अपना महत्त्व भी पहँचानता है। वह महत्त्व पहँचानने की प्रक्रिया उसको विकास का मार्ग देने का यत्न है जो उसे यांत्रिकता में आबद्ध नहीं करता, किन्तु अपने सम्बन्धों में गुणात्मक परिवर्त्तन की ओर नियोजित करता है, और प्रकृति के उन तत्त्वों से उसका सामरस्य उपस्थित करता है, जो धीरे धीरे मात्रात्मक परिवर्त्तन करके उस गुणात्मक, परिवर्त्तन को परमार्जित करते हैं।

"मनुष्य जीवन की एक प्रमुख धारा को ग्रहण करता, बिंबित करता है, वह अन्त में जन्मा है और वही इस समय परिणाम स्वरूप सबसे अधिक सशक्त है। उसने सफलता से किसी भी अन्य योनि के जन्तु को हटाकर उसका स्थान ग्रहण कर लिया है। ×× बाह्य वातावरणात्मक परिस्थितियों को वह अधिक से अधिक अपने अनुकूल बनाने की क्षमता में पशुओं से कहीं अधिक श्रेष्ठ है। वही एक पशु है जो बाह्य वातावरणात्मक परिस्थितियों

१ ऑनअण्डरस्टैंडिंग साइन्स जेम्स बी कोनेंट पृ० ३७

२ द मिस्टीरियस यूनिवर्स सरजेम्स जीन्स पृ० ३५

पर वास्तविक रूप से काफ़ी अधिकार रखता है। उसकी प्रजनन शक्ति सबसे अधिक है।[३]"

मनुष्य सबसे उच्चतर अवस्था में रहते हुए अपनी शक्ति का निरंतर विकास करता रहा है।

उसके इसी विकास में उसने कई मंज़िलें पार की हैं, जिनसे प्रमाणित होता है कि उसकी चेतना ने धीरे-धीरे अपता विकास किया है। उसकी चेतना कोई अरूप वस्तु नहीं है। वह समाज से सापेक्ष रहती है, और भौतिक का ही रूप परिवर्त्तन होने से जन्म लेती है।

साहित्य में भी यह चेतना अपना संबंध वस्तु स्थिति से अन्यत्र नहीं रख पाती। अब मैं इसे स्पष्ट कर देने के बाद यह भी स्पष्ट करना चाहता हूँ कि मेरे उठाए प्रश्न साहित्य के मौलिक सृजन के प्रश्न हैं, जो संस्कृति और साहित्य पर गंभीर प्रभाव डालते हैं। आज इन विषयों को लेकर बड़ा विवाद होरहा है।

मैं जब कम्युनिस्टों की लेखकों पर हावी होने की प्रवृत्ति का विरोध करता हूं, तब भी मैं यही मानता हूँ, कि वे जन कल्याण के लिये लड़ते हैं, इतिहास में उनका महत्त्वपूर्ण स्थान है, किंतु कोई भी क्योंकि पूर्ण नहीं होता, वरन अपनी विरासत में से जन्म लेता है। उनमें भी यह दोष हैं जो मैंने ऊपर बताये। उन्हें इस पर ध्यान देकर अपने को ठीक करना चाहिये, अन्यथा इतिहास उनको ठीक कर देगा। साहित्य के ये प्रश्न बुनियादी हैं।

क्लासिकल युग में दर्शन, साहित्य और कला, मनुष्य के अध्ययन को ही अपना मूल ध्येय मानते हैं। वे उसकी प्रकृति, उसकी वासनाओं, उसके उद्देश्यों, सामाजिक आदतों और विचित्रताओं का मनन करते हैं। वे व्यक्ति के रूप में मनुष्य को देखते हैं, जिसके लिये कि तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था एक कलात्मक पृष्ठभूमि प्रदान करती हैं; वह मनुष्य को स्थापित व्यवस्था के विरुद्ध नहीं दिखाती, क्योंकि उन लेखकों में राजनैतिक सुधारवाद नहीं मिलता।[१] वैसे हमें ऐसे कवि भी मिलते हैं जिनका जनता से गहरा संबंध

---

३ द मीनिंग ऑफ़ इवोल्यूशन जॉर्जगेलोर्डसिंपसन पृ० १३८ १३९

१. फ्रांस (द वर्ल्ड टुडे) ऑक्सफ़ोर्ड १९४२, पृष्ठ ५५

था, जैसे यूरोप में चौसर और वियों थे। उन्होंने समाज का गहरा प्रतिबिंब प्रदर्शित किया है। २. किंतु मध्यकालीन चिंतन और आधुनिक तर्कशील चिंतन का मूलभेद उसका सृष्टि के संबंध के विचार में है। मध्यकालीन दार्शनिक से लेकर तत्कालीन मूर्खतम भूमिबद्ध किसान तक यह समझते थे कि संसार उनके लिए ही बना था। सारे ग्रह नक्षत्र उसकी पृथ्वी के चारों तरफ़ घूमा करते थे। सारे प्राणियों की सृष्टि मनुष्य की सहायता का विरोध करने को ही हुई थी। ईश्वर और शैतान उसी की किस्मत से लगे थे, क्योंकि ईश्वर ही ने तो मनुष्य को अपनी प्रतिकृति दी थी। ३ पूंजीवाद के अभ्युदय के समय यही विचार और रूप में प्रगट हुआ था। फ्रांसिस गाल्टन यह मानता था कि अंगरेज़ों का हुकूमत करने वाला और सत्ता धारण करने वाला धनी वर्ग उन सब प्राकृतिक गुणों को अपने विकास में धारण किये हुए था जो कि अंगरेज़ी कौम और संभवतः मानवता में सर्वश्रेष्ट थे। बॉयलॉजी के हिसाब से जो भी कुछ मुल्यवान था, वह उनमें मौजूद था। ४

अपने अपने वर्गीय जीवन में युग युग के मानव की मनोवृत्ति बदली। उसका सृष्टि को जानने का प्रयत्न और समाज की व्यवस्था का रूप दोनों सदैव मिले हुए रहे हैं। आदिम जातियों में यह आम रिवाज़ था कि बच्चों के शरीर पर टॉटेम का चिन्ह गुदवा देते थे। १ टॉटेम आर्थिक रूप से मदद गार वस्तु हुआ करती थी। जब विवाह प्रारंभ हुआ तो समाज के नियमन खेतिहर जीवन की ओर आरहे थे। भारत में श्वेत केतु ने पितृ सत्ता का परिमार्जन किया था। एटिक परम्परा में राजा केकरोप्स से पहले स्त्रियों और पुरुषों के समानाधिकार थे, माता के नाम पर बच्चों का नाम रखा जाता था, और विवाह नहीं था। २ किंतु कालांतर में जब पितृसत्ता ने और विकास

२. द क्लासिकल मौमैन्ट—मार्टिन टर्नल पृ० २ १९५१

३. द माइन्ड इन द मेकिंन–जेम्स हार्वे रौबिन्सन--लंदन १९४९ पृ० ९९

४. हेरिडिटी, रेस एण्ड सोसायटी. इन दोब्ज़हान्स्सी पृ० १४.

१. एसकाइलस एण्ड ऐथेन्स जॉर्ज टॉमसन. १९५० पृ० २०

२. वही पृ० २९

किया, दास प्रथा टूटने लगी तब, काव्य नृत्य से अलग होने लगा। पौराणिक गाथा कर्मकाण्ड से अलग हुई, यह तब हुआ जब एक उच्चवर्ग के विकास में जन्म लिया, जिसकी संस्कृति को संबंध उत्पादन के श्रम से नहीं था। ३ स्पिनोज़ा ने अपने युग में व्याख्या करते हुए कहा था कि समस्त शास्त्र मुख्यतः समस्त जनता के लिये लिखा गया था। ४ समाज में साधारण विकास को वह प्रकृति की शक्ति कहता था और संकट काल को ईश्वर की शक्ति मानता था। ५.

पूंजीवाद के विकास ने मनुष्य की विभिन्न संस्कृतियों को एक दूसरे के निकट कर दिया। विज्ञान ने आश्चर्य्यजनक खोजें की। सदियों से जो मनुष्य का परिश्रम चल रहा था, वह धीरे धीरे मात्रात्मक परिवर्त्तन कर रहा था, जिसने अब एकत्र होकर गुणात्मक परिवर्त्तन किया और एकदम उन्नति प्रारंभ होगई। इस उन्नति के प्रारंभ होने से पहले मनुष्य को यह भ्रम हुआ कि वह सब कुछ जानने लग गया है। उसके विज्ञान के अनुसार जो ठीक है वही ठीक है, बाकी सब झूंठ है, किंतु जैसे जैसे विज्ञान का विकास बढ़ता गया, मनुष्य को यह लगने लगा कि सृष्टि बहुत बड़ी है, और विज्ञान की सीमाएं अभी अल्प हैं। अणु को तोड़ देने वाला विज्ञान भी अभी तक बहुत अल्प ज्ञान है। अभी ज्ञान के लिये असीम मार्ग खुला पड़ा है। उसने यह भी अनुभव किया कि उसके पास जो विज्ञान का साधन है वही उसका संबल है। उसे छोड़कर वह केवल कल्पना में पड़ जाता है। अतः विज्ञान ही उसे आगे चला सकेगा। बाकी का दर्शन केवल वाह्य दृष्टि को बल देता है, और आंतरिक वस्तु सत्य विज्ञान से ही प्रगट होता है, और उसका भी अनुकूल साहित्य ही करता है।

साहित्य ही व्यापक जनकल्याण की खोज में चलता है। किंतु उसके व्यवहार के विरोध में पूंजीवाद अपना वर्गवादी स्वार्थ खड़ा करता है। पूंजीवाद मानव विकास का विरोधी होगया है।

---

३. वही पृ० ६४.

४. द स्टोरी आफ़ फिलासफ़ी, विलडुरेंट. पृ० १६३.

५. वही पृ० १६३

पूंजीवाद उत्पादन का ध्येय, अंत और उद्देश्य यह है कि अधिक से अधिक अतिरिक्त-मूल्य (Surplu value) को निकाल लें, और इस प्रकार श्रम-शक्ति का अधिक से अधिक शोषण कर सकें अर्थात् उसे खूब स्तैमाल करलें, उससे खूब काम करालें। १

धन के ही मनुष्यत्व के ऊपर आजाने से संसार में आज घोर विषमता फैली हुई है। कल जब यह शोषण मिट जायेगा, तब के साहित्य में आज का संघर्ष अपना स्थायी महत्त्व रखेगा, क्योंकि सांस्कृतिक संदेश देने वाला आज का साहित्य किसी राजनीतिक दस्तावेज़ के रूप में भविष्य के मानव के हाथ में नहीं जायेगा, वह आज के मनुष्य का वास्तविक चित्रण होगा। इस चित्रण में उसे जीवित व्यक्तियों के दर्शन होंगे।

मनुष्य की वाह्य जगत में जो उन्नति है वह कल उसे बंधन सी नहीं लगेगी। यह प्रमाणित करने में, प्रचार करने में आज जो संघर्ष है कि "श्रम की उत्पादन-सामर्थ्य श्रमिक के कौशल और योग्यता पर ही निर्भर नहीं होती, वह उसके औज़ारों पर निर्भर होती है। २" यह सिद्धांत कल एक सत्य बन जायेगा और यद्यपि यह सदैव सत्य रहा है, किंतु पूर्णतया संसार में मान लिया जायेगा और साहित्य ही वह साधन रहा है, है, और होगा, जो निरंतर विकसित होते समाज में मनुष्य की मूलभूत इकाई का त्रिकाल में साक्षी बनेगा और इकाई के विकास का वही साक्षी भी हो सकेगा। आज का समाज इस इकाई का विरोध कर रहा है।

"यह कोई आकस्मिक घटना नहीं है कि पूंजीवादी और मज़दूर बाज़ार में खरीदार और बेचने वाले के रूप में आते हैं। यह तो व्यवस्था है जो कि मज़दूर को बाजार में अपनी श्रम-शक्ति बेचने वाला बनाती है—उसे ऐसा बनाती है जैसे कोई फेरी वाला अपनी चीज़ बेचता हो और वह उसकी ही वस्तु को इस रूप में परिणित करती है कि दूसरा आदमी उसे खरीद सकता है। वास्तव में, मज़दूर इससे पहले कि अपनी पूंजी के हाथ बेचदे, पूंजी का ही होता है। ३"

---

१. कैपीटल कार्ल मार्क्स—पृ० ३३१

२. वही, ३४१ ३. वही, पृ० ५७७.

आज के युग में वास्तव में सब कुछ बंदी होगया है क्योंकि सर्वोपरि रहने वाला मनुष्यत्व धन के माध्यम से आंका जाने लगा है। उसका सबसे पहले साहित्य ने ही विरोध किया था और आज भी कर रहा है। किंतु उस विरोध की चेतना को यदि अवरुद्ध पथों में खींचा जायेगा, वह आने वाले युग को प्रेरणा नहीं दे सकेगा।

पूंजीवाद ने जब विकास किया था तब यह सामंतवादी व्यवस्था की तुलना में मनुष्य की तुलनात्मक स्वतंत्रता के रूप में आया था। उस समय व्यक्ति को बिल्कुल स्वतंत्रता न थी। पूंजीवाद ने 'व्यक्ति' को बढ़ावा दिया, क्योंकि व्यापार व्यक्तिगत संपत्ति के आधार पर ही प्रारंभ हुआ था। किंतु वह अब व्यक्तियों की मोनोपॉली का आधार लेकर पनप रहा है।

"पूंजीवाद की उन्नति का अर्थ है कि उसके विरोधों और अन्तर्विरोधों की उन्नति होती है। मांग और वस्तु विक्रय में भेद होता है, उनका आपसी सामरस्य और संतुलन बिगड़ जाता है। समाज की खरीदने की ताकत घट जाती है, और उत्पादन के पैमाने बढ़ जाते हैं। उत्पादन की आपसी शाखाओं में निरंतर गड़बड़ी होती है और ज़ोर के उतार चढ़ाव आते हैं। कभी उत्पादन अधिक हो जाता है इत्यादि।"

इस प्रकार समाज में कभी स्थिरता नहीं रहती। पूंजीवाद जिस व्यक्ति वाद को प्रश्रय देता है वह शोषण के आधार पर टिका रहता है, क्योंकि उसमें एक की स्वतंत्रता, अन्यों की स्वतन्त्रता पर हावी रहती है। समाजवाद उस नये व्यक्तिवाद को जन्म देता है जिसमें व्यक्ति और समाज का तादात्म्य होता है। किन्तु यदि समाज पर कला के नाम पर व्यक्ति को घोटा जाता है तो वह स्तुत्य नहीं कहला सकता। वह मध्यकालीन संस्कारों की विरासत ही कहला सकती है। पूंजीवाद उसकी अपनी तुलना में बुरा कहकर उसके सामाजिक कल्याण के पहलू को ही झुठा देना चाहता है और अपने शोषण को कायम रखना चाहता है।

सामयिक संकटों में पूंजीवादी समाज बर्बर अवस्था पर उतर आता है, जैसा कि वह मूलतः था। ऐसे समय में अराजकतावादी, अन्तर्विरोधी और ऐतिहासिक रूप से पिछड़े हुए पूंजीवाद की मूर्खता और भी स्पष्ट हो जाती

है। बुर्जुआ वर्ग के आदर्शवादी विचारक भी इसको स्वीकार करते हैं। २

जनवादी विचारक इस असांस्कृतिक पक्ष के अध्ययन में रत रहते हैं और मनुष्य के कल्याण का व्यापक पथ खं लते हैं। पूंजीवाद व्यक्तिवाद को प्रश्रय देता है और घोर शोषण करते हुए झूंठी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का आडम्बर खड़ा करता है। सच्चा समाजवाद शोषण दूर करके व्यक्ति को समाज में विकास करने का पूर्ण अवसर देता है, उसे घोटता नहीं। यदि उसकी व्यक्ति-विकास-धारा रोकी गई, तो क्या वह रुक सकेगी? नहीं। अब यूथ बुद्धि फिर से प्राप्त नहीं हो सकती। अब तो न समाज और व्यक्ति को एक दूसरे से अलग किया जासकता है, न समाज और व्यक्ति एक दूसरे को दबा ही सकते हैं। व्यक्तित्व का सबसे अधिक पक्ष लेखक के कार्य में निहित होता है। उसे तुलनात्मकरूप में सबसे अधिक स्वतन्त्रता की आवश्यकता होता है। वह राजनीतिज्ञों का पिछलग्गू नहीं हो सकता। क्रिया के क्षेत्र की भाँति ही विचारों के क्षेत्र में भी, कानून ही मूलाधार था—स्वतन्त्रता का: वही एक कायदा था कि जो कारण शक्ति के अनुकूल न हो, और समझ में न आ सके, उसे दूर कर दिया जाये।१

इसको समझने पर हम यह कल्पना ही क्यों करें कि लेखक सबसे गया बीता प्राणी होता है और उसमें ही विगत के संस्कार सबसे अधिक होते हैं। एक और बात याद रखने की है कि विचार का क्षेत्र क्रिया के क्षेत्र की भांति हठात् परिवर्त्तित नहीं हो जाता। पुराने विचार धीरे धीरे बदलते हैं। वे व्यक्ति में बसते हैं, पुराने समाज के अवशेष होते हैं। अतः जब हठात् विचार बदले जाते हैं तब वे समाज परिस्थिति से अपना मेल भी नहीं जोड़ पाते।

एक कायदे के बिना आज़ादी नहीं हो सकती और कर्त्तव्यों की सीमा की परिभाषा किये बिना कोई न उन्हें पा सकता है, न उनके परे जा

---

१ द रोल आफ़ सोशलिस्ट कंनशेसनेस इन द डेवलेपमेंन्ट आफ़ सोवियत् सोसायटी, पृ० १३ मॉस्को ६५० एफ० ई० कोन्सटैनटिनोफ़।

२ वही

१ द कन्डीशन आफ़ मैन लुई ममफ़ोंड पृ० २१

सकता है।२

तो लेखक का भी अपना उत्तरदायित्व होता है, फिर वह राजनीति के पीछे क्यों चले ? यह तो ठीक है कि राजनीति सबमें रहती है, यह भी ठीक है कि राजनीतिक संघर्ष में वर्ग और जन का अगुआ प्रतिनिधित्व पार्टियाँ करती हैं और वर्ग और जन के स्वार्थ उनसे मिलकर चलने में रक्षित होते हैं, किंतु लेखक यदि पार्टी कार्य्यक्रम में बद्ध हो जायेगा तो वह कभी भी अच्छा साहित्य न दे सकेगा, क्योंकि वह अनुभूति के मूल नियम को भूल जायेगा।" कानून, कायदा, और उनका नैरन्तर्य्यः यह अवस्थाएं स्वतन्त्रता की मूलाधार हैं, वैविध्य और नवीनता का भी इन्हीं में प्राण रहे, और इस प्रकार यही सामाजिक रचनात्मकता अथवा सृजनात्मकता का आधार हैं। क्योंकि बिना उत्तरदायित्व के कानून की स्वतन्त्रता उत्तरदायित्वहीन अराजकता है। कायदे से हीन वैविध्य गड़बड़ है, और नैरन्तर्य्य के बिना नवीनता शून्य है, बिखर जाना है।३"

साहित्य इन तीनों मर्यादाओं की युग सापेक्ष इकाई है। लेखक क्या करता है ? वह अपने प्रतीकों से घटना के केवल वाह्यपक्ष को प्रदर्शित नहीं करता। उसके प्रतीक माध्यम शब्द हैं। वह वस्तु के वाह्यरूप मात्र को नहीं दिखाता। चेतना जिस रूप में वाह्यवस्तु का अनुभव करती है उसकी नकल भी लेखक उपस्थित नहीं कर देता। वह तो इन घटनाओं से मनुष्य का संबंध जोड़ता है, जो उन वस्तुओं से प्रभाव उत्पन्न होकर मनुष्य के मस्तिष्क पर पड़ते हैं उन्हें प्रगट करता है। वह किसी नगर की इमारतों, या कौंउसिल की मीटिंग या युद्ध या पर्वत, नदी, घाटी, इत्यादि को उपस्थित नहीं कर देता, वरन उनके तात्पर्य, उद्देश्य, शब्द विचार इत्यादि के उपस्थित करता है, जो यह घटनाऐं या दृश्य लेखक के अपने मस्तिष्क अथवा अन्य मनुष्यों के मस्तिष्क पर छोड़ते हैं।१

२ वही पृ० २१

३ वही पृ० २१

१ जजमेन्ट इन लिटरेचर डब्लू बैसील बर्स फोल्ड १६३२ पृ० १३

यदि लेखक को यह स्वतन्त्रता नहीं होगी और उन्हें इन भावों को दबाना पड़ेगा तो वह यथार्थ के चित्रण का सत्य उपस्थित नहीं कर सकेगा। लेखक की दृष्टि सापेक्ष रहती है, किन्तु वह उस सापेक्षितावाद को ज्ञान के आधार के रूप में स्वीकार नहीं करता, जो किसी वाह्यवस्तु या प्रकृति की सत्ता जो कि मानवता से स्वतन्त्र होकर अपनी सत्ता धारण करती है, उसे ही अस्वीकार कर दे क्योंकि वह अपनी सापेक्ष दृष्टि का अर्थ यह नहीं लगाता कि भौतिक संसार मनुष्य के मस्तिष्क से अलग स्वतन्त्र रहता हैं और वह मानता है कि "भौतिक मनुष्य के मस्तिष्क से अलग स्यतन्त्र 'रहता है' और वह मानता है कि "भौतिक मनुष्य से पहले था, मनुष्य के किसी अनुभव से पूर्व भी उपस्थित था। भौतिक, मस्तिष्क, इत्यादि। (भौतिक) पदार्थ की सर्वश्रेष्ठ रचना (रूप है)।"२

सारॉश में कहा जा सकता है कि....."एक बहुत ऊँचे दर्जे की कुशलता-पूर्ण आध्यात्मिक (चौंके नहीं, यह आध्यात्मिक वही है, जिसके लिये स्तालिन ने आत्मा का शिल्पी होने का शब्द प्रयुक्त किया है) शक्ति सदेव कवि में काम किया करती है, उसे अपने आपके संमुख प्रगट किया करती है, उन लघुक्षणों में जिनका कि अन्तहीन महत्व है। अन्तहीन वह उसी के लिये है....क्योंकि विश्वात्म की सार्थकता उन क्षणों में निहित होती है...जो एक व्यक्ति के काम की ही चीज है, वह मूल्यहीन है...यही साहित्य का अटल सत्य है.....।"३

यदि इस कवि शक्ति को स्वीकार नहीं किया जायेगा, और उसे संसार के अन्य धंधों के समान समझा जायेगा, तब मैं और कुछ नहीं कहूँगा, केवल यही प्रार्थना करूंगा कि जो चाहे हुक्म पर कवि बन जाये और कविता करे। जब तक ठोक पीट कर मनुष्य को कबि नहीं बनाया जा सके, तब तक तो यही सत्य रहेगा। इसी सत्य की मर्यादा को प्राचीनकाल में भी अंशतः

२ मैटीरियालिज़्म एण्ड एम्पीरियो क्रिटिसिज़्म मॉस्को १९५२ पृ० १३५

३ पेसेज़ ऑन लेंग्वेज एण्ड लिटरेचर वैलेरी सं० हेवेसी० पृ० १०४

पहँचाना गया था जब छत्रसाल भूषण की पालकी उठाता था और कवि को राजा के मातहत नहीं समझा जाता था। कवि राजाओं से अकड़ जाता था। आज के नये युग में कवि के ऊपर लगे वे पुराने बंधन हमें हटाने होंगे कि उसे नये तरीके से बिल्कुल ही घोट दिया जायेगा ?

— ६ —

साहित्य का अन्तिम मूल्य क्या है ? यह प्रश्न समस्त विचारकों के चिंतन के मूल्य में है। वह युगपरक है, उसका भाव से ही मूल सम्बन्ध है, वह स्थायी महत्त्व रखता है, वह सामाजिक जीवन को बिम्बित करके चुप नहीं रह जाता, वरन् मानवों में एक व्यापक दृष्टिकोण जाग्रत करता है। वह व्यक्ति की स्वतन्त्रता और समाज के नियमों का सन्तुलन करता है और सर्वोपरि वह मनुष्य की भावभूमि का स्तर उठाते हुए उसे उदात्ततर बनाकर आनन्द देता है,—यही विचार अधुना अपने को विभिन्न रूपों में तर्क-वितर्क के रूप में प्रस्तुत करते हैं और यही मूल्यों को निर्धारित करने का वह संघर्ष है, जिसकी अभिव्यक्ति विभिन्न रूपों में होती है।

हम यही कहेंगे कि ऊपर जो विचार हैं वे एक-दूसरे के पूरक हैं और मूलतः यह सब व्यापक 'मानवतावाद' के विभिन्न अंश हैं, जिसका कि आधार मनुष्य की सत्ता का ही अभिव्यक्त स्वरूप है।

: १ :

'मानवतावाद' क्या है ?

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि मनुष्य अपने को सुखी बनाना चाहता है और उसके लिए उसने समाज बनाया है, साहित्य का सृजन किया है। इस जीवित रहने की इच्छा—अर्थात् जिजीविषा को ही उसने इतना विकसित और व्यापक बनाया है।

जिजीविषा के निम्नलिखित रूप हैं—

(१) मनुष्य का मनुष्य से सन्बन्ध, ताकि मनुष्य रह सके, खा-पी सके और अपना विकास कर सके।

(२) मनुष्य का मनुष्य से सम्बन्ध, ताकि मनुष्य वे साधन एकत्र कर सके, जिनके प्रयोग से वह जीवित रह सके और अपने को समृद्ध बना सके।

(३) मनुष्य का प्रकृति से संघर्ष, ताकि मनुष्य अपना नाश करने वाली शक्तियों को परास्त करता रहे और अपने को जीवित रख सके।

(४) मनुष्य का मनुष्य से संघर्ष, ताकि कोई एक दूसरे को दबा न सके, बल्कि सब ही विकास कर सकें।

(५) मनुष्य की प्रकृति की खोज, ताकि वह जहाँ एक ओर अपने ज्ञान को बढ़ाये, दूसरी ओर वह यह भी जान सके कि सृष्टि क्या है, क्यों है, कैसे है, कब से है, कब तक है इत्यादि।

जिजीविषा के यही मूल रूप हमारे आज तक के चिन्तन के आधार रहे हैं और आज भी हैं। पहली, दूसरी, तीसरी बात को सहज ही स्वीकार कर लिया जाता है। चौथी बात के लिए संसार में आज भी संघर्ष हो रहा है और पाँचवीं बात के लिए आगे भी निरन्तर कार्य होता रहेगा, क्योंकि 'जिजीविषा' का 'उदात्त रूप' उसीमें अपना विकास निरन्तर प्राप्त करता है।

साहित्य इन पाँचों की सुन्दरतम रूपों में अभिव्यक्ति है। प्रश्न अपने मौलिक रूप में इसी प्रकार है, किन्तु उसे खण्ड-खण्ड करके देखा जाता है। यदि हम इस पूर्ण रूप को देखें तो हमारे सामने खण्डित रूप नहीं जाग सकेंगे वरन् हम अपनी 'सापेक्ष पूर्णता' के अधिक से अधिक निकट हो सकेंगे।

सिद्धान्त के रूप में जो इतना सहज है उसकी अभिव्यक्ति आज निम्न-लिखित रूपों में तर्क बनाकर उपस्थिति प्राप्त करती है—

(१) वे लोग जो वर्ग-संघर्ष के माध्यम से साहित्य और मनुष्य को यांत्रिक बनाते हैं वे रूढ़िवादी दृष्टिकोण से देखते हैं।

(२) वे लोग जो आत्मवाद के नाम पर व्यक्ति को समाज से निरपेक्ष बना कर देखते हैं वे अवैज्ञानिक दृष्टिकोण रखते हैं।

पहला सम्प्रदाय जड़वादी है, दूसरा वास्तविकता को झुठलाने वाला। पहला अपनी बात को अन्तिम सत्य मानता है, दूसरा संशयवादी है। पहला

रूसी साम्यवाद को ज्यों-का-त्यों भारत पर लागू करता है, दूसरा समाज की वैज्ञानिक व्याख्या से ही बरगला उठता है। पहला समाजीकरण में व्यक्ति को अस्वीकृत करता है, दूसरा व्यक्ति के नाम पर समाजीकरण का तिरस्कार करता है। पहला शताब्दियों से चले आए मनुष्य की अपूर्व गाथा को यन्त्र-वत् देखता है, दूसरा आज तक के विकास को अस्वीकार करके किसी प्रकार का भी तारतम्य ही स्वीकार नहीं करना चाहता।

पहला कुत्सित समाज-शास्त्री है, दूसरा समाज-शास्त्र को ही नहीं मानता इन दोनों के बीच का रास्ता ही ठीक है।

मार्क्सवाद से ही पहले सम्प्रदाय के लोग प्रेरणा लेते हैं और दूसरे सम्प्रदाय के लोग उसे ही अत्यन्त अपूर्ण और विदेशी समझते हैं, ऐसा कि वह भारतीय प्रश्नों का उत्तर नहीं दे सकता। दोनों के बीच बहुत बड़ी खाई है। साहित्य में पहले सम्प्रदाय की अभिव्यक्ति नीरस राजनीतिक रचनाओं में प्रकट होती है और दूसरे सम्प्रदाय की अभिव्यक्ति प्रयोगवाद का रूप धारण करती है। पहले सम्प्रदाय के पीछे वे लोग इकट्ठे होते हैं जो मूलतः विध्वंस-वादी हैं, अतिक्रान्तिवादी और अराजकवादी हैं, और अवसरवादी हैं, तो दूसरे सम्प्रदाय के पीछे वे लोग आ खड़े होते हैं जो अपने पुराने व्यक्तिवादी दृष्टि-कोणों को सहायता दिलवाना चाहते हैं, जिनमें पलायनवादी, कला कला के लिए वाले, निरपेक्ष शाश्वतवादी और इसी प्रकार के वे अन्य लोग हैं जो इतिहास की विराट् गति को किसी प्रकार रोक देना चाहते हैं, चाहे वे अपने कार्यों का परिणाम स्वयं जानते हों, या नहीं जानते हों। वे व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के नाम पर दर्शन की उन अनबूझ उलझनों में जा डूबते हैं, जिन से आज कोई हल नहीं निकलता और विशेष सामाजिक व्यवस्थाओं में जन्म लेने वाले विचारों को वे देश-काल से अलग करके शाश्वत काल तक का समाधान कर लेने के लिए मजबूर करते हैं।

दोनों ही एक से प्रगति-विरोधी हैं।

पहले संप्रदाय के लोग यह मानते हैं कि 'प्रगति' हो चुकी, अब आगे और नहीं होनी है, मार्क्स के सिद्धान्त ही अन्तिम सत्य हैं, और दूसरे सम्प्रदाय के लोग किसी और पुराने ही दर्शन को शाश्वत मानते हैं और व्यक्ति की नीयत

देखकर उसके सामाजिक कार्य तथा उनके परिणामों को नहीं देखते।

बातचीत में बहुधा रूस को बीच में खींच लिया जाता है और व्यक्ति स्वातन्त्र्य या समाजीकरण के पक्षपाती अपने अपने पक्ष की बात रूस से ही लेते हैं।

यह द्वन्द्व बढ़ता जा रहा है और इसके स्पष्टीकरण की अब साहित्विक आवश्यकता हो गई है; क्योंकि यह विचार साहित्य प्रभाव डाल रहे हैं और इसीलिए प्रगतिशील साहित्य को जाँचने के आज एक से अधिक दृष्टिकोण हैं, जिनमें प्रमुख भेद इस प्रकार किया जा सकता है—एक वे हैं जो रूस से प्रेरणा ही नहीं प्राप्त करते, वरन् रूसी परिस्थिति को ज्यों-का त्यों भारतीय परिस्थिति पर लागू करना चाहते हैं, दूसरे वे हैं जो रूस को एक ऐसी जगह समझते हैं जहाँ भौतिक समृद्धि के नाम पर समस्त व्यक्तिगत चिन्तन की स्वतन्त्रता छीन ली गई है, अतः उसकी जगह एक नया रास्ता निकालना चाहते हैं। दूसरे प्रकार के इन विचारकों में से कुछ लोग यह भी कहते हैं कि मूलतः कोई भी 'विचार' अपने-आप में बहुत श्रेष्ठ होता है, परन्तु उसकी बुराई या निर्बलता तभी प्रकट होती है जब उसे व्यवहार में लाने की चेष्टा की जाती है।

वस्तुतः यह समस्त दृष्टिकोण एक उलझन के आधार पर खड़ा होता है। अपनी 'प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड' नामक पुस्तक में मैंने इन प्रश्नों को हल करके स्पष्ट करने का प्रयत्न किया था। किन्तु विचारकों में फिर भी कुछ शंकाएँ रह गई हैं, उन्हें मैं यहाँ स्पष्ट कर देना चाहता हूँ।

प्रगति निस्संदेह केवल परिवर्तन नहीं है। प्रगति विकास में मिलती है। विकास का अर्थ स्पष्ट ही मनुष्य का कल्याण है। किसी भी व्यापकत्व की दुहाई देने वाला सिद्धान्त इसका विरोध नहीं कर सकता। पहले जहाँ वन थे, वहाँ अब सुन्दर नगर बने हुए हैं। पहले प्राणिमात्र को वन में विचरण करने की स्वतन्त्रता थी। सिंह, व्याघ्र, सर्प आदि भयानक जीव-जन्तु निरन्तर मनुष्य की जान को खतरे में रखते थे। अब मनुष्य ने उन सबको अपने पास से दूर खदेड़कर या नष्ट करके अपने जीवन को भयहीन बनाया हैं। यह जो जीवन को 'भयहीन' बनाने की क्रिया है, इसे 'प्रगति' ही कहना होगा, यद्यपि यह 'प्रगति' केवल मनुष्य की 'प्रगति' है, इसने हिंस्र पशुओं और जीवों की स्व-

तन्त्रता में व्याघात डाला है।

हमारे सारे दर्शन और जीवन के विचार, केवल इसी मूलाधार पर टिके हुए हैं और वह मूलाधार—मनुष्य का ही कल्याण है। हमारे सारे पुराने और मध्यकालीन धर्म भी इसी वस्तु सत्य पर आश्रित हैं। अहिंसा का प्रचार करके जीव-मात्र की रक्षा करने वाला जैन धर्म भी अपने सिद्धान्त को केवल श्रावकों पर ही लागू करता है, संसार के साधारण गृहस्थों पर उसे लागू नहीं करता।

यदि व्यापक पारलौकिक दृष्टि से देखा जाय तो यह 'प्रगति' मूलतः मनुष्य का 'जीवित बने रहने का स्वार्थ' ही है, और कुछ नहीं। परन्तु बड़े-से बड़ा, पारलौकिक सिद्धान्तों को मानने वाला भी, इस स्पष्ट सत्य से इन्कार नहीं कर सकता कि मनुष्य के 'स्वार्थ' के बिना काम भी नहीं चल सकता। महाभारत में भी यह प्रश्न उठाया गया है। अहिंसा के विषय में विचार करते समय यह सवाल उठाया गया है कि यदि पूर्णतः अहिंसा को माना जाय तो फिर मनुष्य का जीवन-निर्वाह किस प्रकार हो; क्योंकि, पशु, पक्षी, और जीव-जन्तुओं की ही भाँति वनस्पति भी प्राणधारी है और उसे खाने वाला मनुष्य हिंसा ही करता है। महाभारतकार ने अन्त में इसकी सुलझन यों प्रस्तुत की है—

मनुष्य को ईश्वर ने सर्वश्रेष्ठ बनाया है। यदि मनुष्य जीवित नहीं रहेगा, तो ईश्वर की एक श्रेष्ठ कृति नष्ट हो जायगी। ईश्वर ने ही यह भोजन संसार में नियत किया है। अतः जीवित रहने के लिए इतनी हिंसा तो नितान्त ही आवश्यक है।

महाभारतकार का यह स्पष्टीकरण वास्तव में मनुष्य का स्वार्थ ही है।

मनुष्य का स्वार्थ अन्य प्राणियों की भाँति अपनी जीवन-रक्षा में है। इस जीवन को, मनुष्य ने पहले हिंस्र पशुओं से बचाया था। कालान्तर में सामाजिक जीवन में रहते हुए उसने अपने सत् के, सुन्दर के, शिव के जितने दृष्टिकोण उपस्थित किये हैं, वह मनुष्य के जीवन को सुन्दरतर बनाने के लिए ही प्रस्तुत किए हैं। पहले, मनुष्य अपने समाज की विषमशील परिस्थिति को भाग्य पर लागू करते थे, क्योंकि वे उनका कारण नहीं समझ पाते थे। अपनी

'हिन्दी-साहित्य की धार्मिक और सामाजिक पूर्वपीठिका' में दार्शनिक जनक के विषय में विस्तार से लिख चुका हूँ, जिसने इस संसार के दुःख से दुखी होकर संसार का त्याग कर दिया था, परन्तु बाद में कोई मार्ग नहीं पाने पर, फिर राज्य सँभाला था और अपने को सब सुख-दुःख के प्रति उदासीन बना लिया था। उच्चराजन्य वर्ग का व्यक्ति होने पर भी, क्षत्रिय-स्वार्थ में बद्ध जनक ने संसार का कल्याण करने का यत्न किया था। परन्तु समाज का विकास नही जानने के कारण राजा जनक मार्ग नहीं खोज सका। इस कथा को मैंने यहाँ दो कारणों से दुहराया।

एक तो इसलिए कि मैं व्यक्ति को समाज का अंग मानता हूँ, और व्यक्ति का स्वार्थ सदैव उसकी समाज-व्यवस्था पर निहित होता है, यह मेरे सामने अत्यन्त स्पष्ट है।

दूसरे इसलिए कि व्यक्ति समाज से अभिन्न होने के कारण मशीन नही हो जाता, वह चेतन रहता है, यह मेरी दृष्टि में अत्यन्त स्पष्ट है। व्यक्ति का समाजीकरण उसका हनन नहीं है, उसके निरन्तर होते रहने वाले विकास का पर्याय है।

जब यह सत्य हमारे सामने स्पष्ट हो जाता है तब हम निस्संकोच कह सकते हैं कि प्रगति मूलतः मनुष्य के सामाजिक कल्याण के दृष्टिकोण का नाम है, जो केवल परिवर्तन में नहीं हो जाती जैसा कि हेगेल मानता था, वरन् उस विकास में होती है जो एक परिस्थिति से दूसरी परिस्थिति में पहुँचने पर मनुष्य के जन-समाज को अधिक सुन्दर या समृद्ध, या स्वतंत्र इत्यादि बनाती है.

यहाँ विकास की मोटे तौर पर होने वाली कड़ियों को दुहरा लेना आवश्यक है। यहाँ हम मार्क्स की व्याख्या देते हैं।

पहले आदिम साम्यवाद था। समूह का एकत्र होकर रहना, शिकार मिल-बाँटकर खाना, व्यक्तिगत सम्पत्ति का न होना, सामूहिक यौन-सम्बन्ध होना, सामूहिक गीत गाना इत्यादि ऐसे तथ्य प्रायः ही संसार की जातियों के आदिम रूपों में मिलने वाले सत्य हैं। उस समय द्वेष इसीलिए नहीं था कि जलने की आवश्यकता नहीं थी। चोरी नहीं थी, क्योंकि व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं थी। देखने को यह समय, यह व्यवस्था बहुत ही स्वप्न-भरी और मनो-

हारी लगती है। परन्तु इस परिस्थिति में मनुष्य प्रकृति के अन्य पशुओं की भाँति ही था। धीरे-धीरे 'आग' का जन्म हुआ अर्थात् मनुष्य ने 'आग' पर काबू पा लिया। अब समाज का विकास हुआ। अब मनुष्य की शक्ति बढ़ने लगी।

क़बीले एक दूसरे से लड़ने लगे। हारने वाले को गुलाम बनाया जाने लगा। देखा जाय तो जिस व्यवस्था ने मनुष्य को गुलाम बनाया, वह बहुत बुरी होनी चाहिए, परन्तु समाज के विकास के क्रम में दास-प्रथा एक समय उपयोगी सिद्ध हुई, क्योंकि अब मनुष्य के समाज ने 'प्रगति' की। प्रगति !! वह कैसे ?

वह इस प्रकार कि उत्पादन के साधनों पर उसका पहले से अधिकार हुआ, समाज ने अनेक प्रकार की वस्तुएँ बनाईं। जिस समय समाज में दास-प्रथा का विकास हो चुका; उसकी 'प्रगति' समाप्त होगई, समाज में 'सामन्तीय व्यवस्था' ने पदार्पण किया। भारत में यह परिस्थिति, यह परिवर्तन-क्रम महाभारत-युद्ध के बाद से प्रारम्भ हुआ और चाणक्य तक पूर्ण हुआ, यहाँ धीरे-धीरे विकास हुआ। पश्चिम में स्पार्टाकस दास के सशस्त्र-विद्रोह के भी प्रमाण मिलते हैं, जो असफल हो गया था।

सामन्तीय व्यवस्था में 'दास' 'भूमिबद्ध किसान' बना, और समाज में जहाँ पहले से अधिक समृद्धि आई, मनुष्य को 'मनुष्यत्व' के नाम पर अधिक सम्मान भी दिया गया। उसके बाद पूँजीवाद व्यवस्था ने पदार्पण किया और जहाँ समाज और भी अधिक समृद्ध हुआ, मनुष्य के 'मनुष्यत्व' को और भी अधिक स्वतन्त्रता देने की घोषणा हुई वहां 'शोषण' सामंतीय शोषण की तुलना में 'अधिक हृदयहीन' हो गया।

इस शोषण के अन्त में समाजवादी व्यवस्था ने अपना सिर उठाया, जिसकी अपनी विशेष परिस्थितियों में रूस और चीन ने अपने-अपने देशों में स्थापना की। मैं उनमें नहीं हूं कि मनुष्य की किसी भी परिस्थिति को उसकी युगसापेक्षता से अलग कर के देखूँ और उसे शाश्वत मान लूँ। रूस और चीन में अभूतपूर्व उन्नति हुई है किन्तु उसके साथ ही व्यक्तित्व पर प्रतिबन्ध भी दिखाई दिये हैं। किन्तु वह देश विशेषों की विकासशील परिस्थितियाँ ।

और वे न तो सार्वभौम हैं, न वे वे मूल सिद्धाँत के ऊपर ही प्रहार हैं, वे तो उस सिद्धाँत को लागू करने के उन देशों के अपने तरीके हैं। यहाँ हम यह कहना ही आवश्यक समझते हैं कि मूलतः मनुष्य की प्रगति समाज का कल्याण है, केवल व्यक्ति का नहीं; और प्रगति वास्तव में वही है जो व्यक्ति की भी स्वतन्त्रता को मानती है, और व्यक्ति की स्वतन्त्रता भी समाज की स्वतन्त्रता की ही भाँति उसके विकास में निरन्तर बढ़ती है। यदि इनमें से एक भी दबता है, तो वहा कुछ गड़बड़ जरूर है और वह गड़बड़ ही समाज और व्यक्ति के सामरस्य में बाधा उपस्थित करती है और वही प्रगति को रोकने वाली वस्तु है।

अतः हमारे सामने यह स्पष्ट है कि आदर्श व्यवस्था वह है जहाँ समाज में शोषण नहीं है और व्यक्ति अपना विकास करने के लिए स्वतन्त्र है, स्वतन्त्र का अर्थ यह नहीं कि वह निरंकुश है। परन्तु घुटा हुआ, दमित नहीं है। इन दोनों का संतुलन कठिन है यह तो खैर स्पष्ट है ही, किन्तु कठिन होने के कारण ही न तो हम व्यक्ति को समाज से अलग कर के देख सकते हैं, न समाज को ही व्यक्तित्व का विनाश करते देखकर ठीक कह सकते है।

व्यक्ति और समाज के इस पारस्परिक सम्बन्ध का विकास प्रत्येक देश की विचार-धारा से प्रभावित मिलता है। हम यह निस्सन्देह कह सकते हैं कि भारतीय चिन्तन में वैष्णव मत ने जो मानवतावादी विचार-धारा शताब्दियों से फैलाई है, वह अन्यत्र दुर्लभ है और इसीलिए भारतीय विचारक समाज और व्यक्ति के अन्योन्याश्रय के प्रति अधिक जागरूक रहे।

: २ :

अत्यन्त दुरूह, अपरिभाष्य और कठिन शब्द कहकर कुछ विचारक 'मानवतावाद' को व्यर्थ कहते हैं। उनका कहना है कि आज तक बर्बर-से-बर्बर व्यक्ति भी 'मनुष्यत्व' का विरोधी नहीं रहा है और अपनी राय में 'अच्छा' ही समझकर करता रहा है। फिर इसी 'मनुष्य के कल्याण' के लिए विभिन्न विरोधी किन्तु महान् कवि भी मिलते हैं, जैसे तुलसी और कबीर। इनके अतिरिक्त कुछ कवियों ने केवल 'सौन्दर्य' का ही वर्णन किया है और वे

कल्याण-अकल्याण के झगड़े में नहीं पड़े जैसे 'बिहारी' आदि। अतः 'मानवतावाद', 'कल्याण', 'बहुजनहिताय' आदि 'लघु' हैं, व्यर्थ हैं, अपरिभाष्य हैं। और यह मान लेते हैं कि व्यक्ति एक धारा—एक गढ़ी हुई समाज-विकास की विचार-धारा के अन्तर्गत हैं—मशीनवत् हैं और परतन्त्र है, जब कि 'स्वेच्छा' बहुत बड़ी शक्ति है और 'स्वेच्छाकृत साहित्य' ही सर्वश्रेष्ठ है, क्योंकि वह व्यक्ति के विकास का परिणाम है और साहित्य 'व्यक्ति' द्वारा ही बनता है।

हम इन्हीं आक्षेपों का उत्तर देते हैं।

पहली बात तो यह है कि कोई भी संसार की परिभाषा अपने-आपमें पूर्ण नहीं है, वह एक से अधिक मनुष्य की विशेष शब्दावली में बँधी स्वीकृति है। गणित में भी 'बिंदु' वह है जिसकी कि न लम्बाई है न चौड़ाई, किंतु पेंसिल से निशान लगाये 'बिंदु' को हमें बिंदु कह कर इसलिए मानना पड़ता है कि उसके बिना काम नहीं चलता। हमारी स्वीकृतियों के सत्य 'सापेक्ष' हैं, पूर्ण नहीं, प्रगतिशील हैं, अन्त नहीं। अतः न हम 'सत्य', 'स्वेच्छा', 'सौन्दर्य, और 'शिव' की ही ऐसी परिभाषा दे सकते हैं, न 'मानवतावाद', 'कल्याण' और 'बहुजनहिताय' की; जैसी कि भावना के क्षेत्र में माँगी जाती है। हम तो केवल एक ही मर्यादा से इनको जाँच सकते हैं—और वह इसी आधार को मानती है कि 'वह एक से अधिक मनुष्य की विशेष शब्दावली में बँधी स्वीकृति है।'

हम 'लघुत्व' की बात करते हुए कहते हैं कि वास्तव में हम 'जीवन का तात्पर्य नहीं जानते।

यह सृष्टि विराट् है, गहन है, अपरिमेय है और स्वयंजात है, न हम आकाश के विराट् विस्तार को जानते हैं, यह भी नहीं जानते कि सूर्य का गतिपथ क्या है, कैसा है, परन्तु इस छोटी-सी पृथ्वी पर हम रहते हैं और महाभारतकार के शब्दों में—हम इस मार्ग का आदि और अन्त नहीं जानते, केवल मध्य जानते हैं। इस सृष्टि में कोई 'जीवित रहने की इच्छा' के अतिरिक्त 'आत्म-हत्या' को रोक नहीं सकता। हम आत्म-हत्या करने के लिए

स्वतन्त्र हैं । पर करते नहीं । क्यों ? आत्मा को मानना, न मानना अलग वस्तु है, परन्तु सब जीवित रहना चाहते हैं और वह भी तब जब कि मृत्यु निश्चित है और उसका समय अनिश्चित है ! इसी को दार्शनिक युधिष्ठिर संसार का सबसे बड़ा आश्चर्य कहा करते थे । फिर यह 'जिजीविषा' क्यों है ? 'क्यों ?' का कोई उत्तर नहीं', वही 'जिजीविषा' है, इसी के लिये मनुष्य ने कुटुम्ब, समाज, राष्ट्र, विभिन्नवाद, काव्य-साहित्य और न जाने क्या-क्या बनाये हैं । इसी को लेकर हमें भी चलना होगा, जिसके अतिरिक्त कोई चारा ही नहीं है ।

: ३ :

यह 'जिजीविषा' मनुष्य के विकास के साथ अपने सुन्दरतर रूप में अभिव्यक्त हुई है और 'एक ही जिजीविषा' ही 'बहुजन जिजीविषा' के उदात्त रूपों में प्रकट हुई है, इसी का सुसंस्कृत रूप 'मानवतावाद' है । बर्बर-से-बर्बर अपने-आप तो नहीं कहता कि वह मनुष्य-विरोधी है । अंग्रेज़ भी हिन्दुस्तान पर इसीलिए राज्य करते थे कि भारतीयों को सभ्य बना सकें, परन्तु मैंने पहले स्पष्ट किया है कि इसका मानमूल्य हम 'बहुजनहित', 'कल्याण की कसौटी पर कसते हैं और यही 'मानवतावाद' की कसौटी है । इसी मानवतावाद के विकास को समाज के विकास के अतिरिक्त और देखा ही नहीं जा सकता । समाज के भीतर विभिन्न वर्ग होते आये हैं और जब तुलसी, कबीर और बिहारी का प्रश्न आता है तब हमें स्पष्ट ही समाज के उत्पीड़क और उत्पीड़ितों के तत्कालीन रूपों को देखना पड़ता है और उस संघर्ष में हमें यह देखना पड़ता है कि किसका कार्य किसके पक्ष में अधिक था । उदाहरण के लिए कबीर ने उत्पीड़क हिन्दू-मुस्लिम-धर्म का विरोध करके निम्नवर्ग अर्थात् 'बहु जनहित' की रक्षा की । तुलसी इस क्षेत्र में उत्पीड़कों के अधिक साथ थे यद्यपि वे भी उतना कठोर व्यवहार दलितों के साथ नहीं चाहते थे । किन्तु तुलसी ने 'कल्याण' 'बहु जनहित' और 'मानवतावाद' की रक्षा की थी 'मुस्लिम साम्राज्य' के विरुद्ध स्वर उठाकर, क्योंकि 'मुस्लिम साम्राज्य' तब अत्याचार करता था । यदि हम पूरी परिस्थिति को नहीं देखेंगे तो सदैव ही हमें गड़बड़ मिलेगी । बिहारी ने यद्यपि 'सौन्दर्य' की बागडोर पकड़ी और

उच्च वर्गों का साथ दिया, परन्तु उसने जिन चित्रों का सृजन किया वे प्रेम और आनन्द का भी द्योतन करते थे, अतः वह स्थायी महत्त्व प्राप्त कर सके। किंतु बिहारी में क्योंकि 'सामाज़िक तथ्य' कम है, बिहारी उतने बड़े कवि भी नहीं हुए, न माने जाते हैं, जितने कि तुलसी और कबीर थे। और वैष्णव-चिन्तन से प्रभावित जिस 'राधाकृष्ण-युगल' को बिहारी ने चित्रित किया है, उस आराधना के मूल में ही 'समन्वय' का दृष्टिकोण था, जो यदि स्पष्ट नहीं था, तो वहाँ भी अन्तर्निहित ही था। अब अन्तिम बात है कि व्यक्ति की स्वेच्छा समाज से अलग होती है और व्यक्ति जब साहित्य बनाता है तब समाज से अलग हो जाता है। यह दोनों ही तथ्य अनर्गल हैं। न कभी व्यक्ति 'स्वेच्छा' को समाज से अलग कर सका है, न व्यक्ति समाज से अलग होकर साहित्य रच सका है। 'समाज से अलग' न होने का तात्पर्य है कि वह समाज का ही वर्णन करता है, समाज के लिये ही करता है। 'स्वेच्छा' 'निरं-कुशता' से अलग है। 'निरंकुशता' अन्यों के अधिकारों पर चोट करती है। 'स्वेच्छा' अपनी सामाजिक 'अति' के रूप में निरंकुशता है। 'स्वेच्छा' का वास्तविक अर्थ होना चाहिये—'व्यक्ति की प्रतिभा का विकास और उसकी शक्ति', वह होनी चाहिए और आदर्श समाज यही है जिसमें उसका विकास हो सके और अधिक-से-अधिक हो सके।

जिस प्रकार एक पिता के तीन पुत्र हों और उन्हें सर्वाङ्ग शिक्षण की सुविधा हो, तब वे अपनी प्रतिभा के अनुकूल विकास करें, किन्तु किसी को भी एक दूसरे को दबाने का अधिकार न हो, वही आदर्श परिस्थिति है। इसी स्थिति को व्यापक रूप देने से 'मानवतावाद' का जन्म होता है; जो 'बहुजनहित' और 'कल्याण' पर आधारित है। हमारा सारा ज्ञान 'सापेक्ष' है और इसीलिए हमारा 'मानवतावाद' का दृष्टिकोण भी 'सापेक्ष' है, मनुष्य-कृत है, मनुष्य-हित है, और मनुष्य के ही भविष्य के लिए है। जिस प्रकार जंगली शेर को मनुष्य 'पिंजड़े' में बन्द कर के मनुष्यता का कल्याण करता है और बर्बर सिंह की 'स्वेच्छा' को स्वीकार न करके अपने कल्याण को ही श्रेष्ठ कहता है, उसी प्रकार साहित्य भी अपने उदात्त रूप में व्यक्ति की 'स्वेच्छा' को बन्दी करके 'बहुजनहित' के 'लघु' स्वार्थ को ही 'स्तुत्य' कहता है, क्योंकि

उसकी यह 'लघुता' ही उसके सारे 'अस्तित्व' की 'एक मात्र महानता' है, जिसके परे की 'व्यापकता का कोई मूल्य नहीं है। 'बर्बर-दास-प्रथा' से निकल कर सामन्तीय उत्कर्ष ने अपने प्रगति काल में जब 'आत्मा को समान' और 'व्यक्ति को दासत्व से मुक्त' किया था तब सार्वभौम 'रति' को साहित्य का 'मूल' कहा था। जब हम 'सामन्तकाल' से आगे आये हैं और 'पूँजीवाद' के शोषण को हटाकर 'नये समाज' की नींव रख रहे हैं, तब हम 'रति' को व्यक्ति की ही परिसीमा में रखकर नहीं देखते, उनकी जिजीविषा' को समाज के समकक्ष, सापेक्ष रखकर देखते हैं और व्यक्ति और समाज का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध देखकर उसकी 'रति' नामक 'जिजीविषा' को 'मानवतावाद' का नाम देते हैं और यही 'मानवतावाद' साहित्य का स्थायी मूल्य है ऐसा निर्विवाद मानते हैं, क्योंकि यह 'मानवतावाद' मनुष्य की सर्वाङ्गीण उन्नति का पर्याय है।